इस अंक में:

साधना की आधारभूत बातें

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका
सितम्बर २०२०

अग्निशिखा सितम्बर २०२० वर्ष ५१, अंक २, पूर्णांक ६०१

विषय-सूची

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश ३
क्या तुम यह जानते हो? ४

भाग १ साधना के तीन आधारभूत तत्त्व

अभीप्सा ६
त्याग १२
समर्पण १५

भाग २ साधना के लिए पाँच आन्तरिक गुणों की आवश्यकता

सच्चाई या पारदर्शिता २६
श्रद्धा या विश्वास ३२
भक्ति या कृतज्ञता ३८
साहस या अभीप्सा ४१
सहिष्णुता या अध्यवसाय ४४

'पुरोधा'

दैनन्दिनी ४६
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' :
जीवन को पूर्ण बनाना लक्ष्य है नवजातजी ४८
श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार 'श्रीमातृवाणी' से ५१
पिता और बेटी वन्दना ५५

सन्देश

कृतज्ञ होना, उन 'परम प्रभु' की इस अलौकिक कृपा को कभी न भूलना जो प्रत्येक व्यक्ति को—स्वयं उसकी अपनी सीमाओं, ग़लतफ़हमियों के बावजूद, उसके अहंकार, अहंकार के विरोधों और विद्रोहों के बावजूद —उसे उसके दिव्य लक्ष्य की ओर, छोटे-से-छोटे रास्ते से ले जा रहे हैं।

हमारे हृदय में कृतज्ञता की ऊष्माभरी, सुखद, जाज्वल्यमान पवित्र लौ हमेशा सुलगती रहनी चाहिये ताकि सारा अहंकार, सारा अन्धकार घुल जाये; परम प्रभु की 'कृपा' के लिए कृतज्ञता की लौ जो 'कृपा' साधक को उसके लक्ष्य तक ले जाती है—और वह जितना अधिक कृतज्ञ होगा, 'कृपा' की इस क्रिया को स्वीकारेगा और उसका आभारी होगा, पथ उतना ही छोटा हो जायेगा।

—श्रीमाँ

इस अंक में 'श्रीमातृवाणी' के सन्दर्भ पुराने खण्डों के दिये गये हैं।

क्या तुम यह जानते हो?

... तुम अपने-आपको जितना अधिक भगवान् को देते हो उतनी अधिक तुम्हें यह अनुभूति होती है—यह केवल कोई भाव या आभास या संवेदन नहीं है, यह एक सम्पूर्ण अनुभूति है—कि तुम जितना अधिक स्वयं को भगवान् को देते हो उतने अधिक पूर्ण रूप से, निरन्तर, प्रत्येक क्षण, 'वे' तुम्हारे सभी विचारों में, तुम्हारी सभी आवश्यकताओं में तुम्हारे साथ रहते हैं, और ऐसी कोई अभीप्सा नहीं है जिसका उत्तर तुरन्त न मिलता हो; और तुम्हारे अन्दर पूर्ण, सतत घनिष्ठता, पूर्ण निकटता का भाव रहता है। यह ऐसा है मानों तुम साथ लिये हो... मानों भगवान् हर वक़्त तुम्हारे साथ हों; तुम चलो और वे तुम्हारे साथ-साथ चलते हैं, तुम सोओ और वे तुम्हारे साथ-साथ सोते हैं, तुम खाओ और वे तुम्हारे साथ-साथ खाते हैं, तुम सोचो और वे तुम्हारे साथ-साथ सोचते हैं, तुम प्रेम करो और वे वही प्रेम हैं जो तुम प्राप्त करते हो। लेकिन इसके लिए तुम्हें स्वयं को पूरा-पूरा, समग्र-भाव से, अनन्य भाव से देना चाहिये, कुछ भी बचा कर न रखो, अपने लिए कुछ भी न रखो और अपने पास कुछ भी न रखो, और न कोई चीज़ बिखेरो ही : तुम्हारी सत्ता में छोटी-से-छोटी चीज़ भी जो भगवान् को नहीं दी गयी है अपव्यय है; यह तुम्हारे आनन्द का अपव्यय है, यह ऐसी चीज़ है जो तुम्हारे सुख को उतनी मात्रा में कम कर देती है, और जो कुछ तुम भगवान् को नहीं देते उसे मानों तुम भगवान् अपने-आपको तुम्हें दे सकें इस सम्भावना के मार्ग में खड़ा कर देते हो। तुम उन्हें अपने नज़दीक, हमेशा अपने साथ अनुभव नहीं करते, क्योंकि तुम उनके नहीं हो, क्योंकि तुम सैकड़ों अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के हो; तुम्हारे विचार में, तुम्हारी क्रिया में, तुम्हारी भावनाओं में, तुम्हारे आवेशों में... लाखों ऐसी चीज़ें हैं जो तुम उन्हें नहीं देते, और इसीलिए तुम उन्हें हमेशा अपने निकट अनुभव नहीं करते, क्योंकि ये सब चीज़ें तुम्हारे और उनके बीच इतने सारे परदे और दीवारें हैं। लेकिन अगर तुम उन्हें सब कुछ दे दो, अगर तुम कुछ भी बचा कर न रखो, तो वे हमेशा पूरी तरह, तुम जो कुछ भी करते हो, जो कुछ भी सोचते हो, जो कुछ भी अनुभव करते हो, उसमें हमेशा, हर क्षण, तुम्हारे साथ होंगे। **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड ७, पृ. २३८

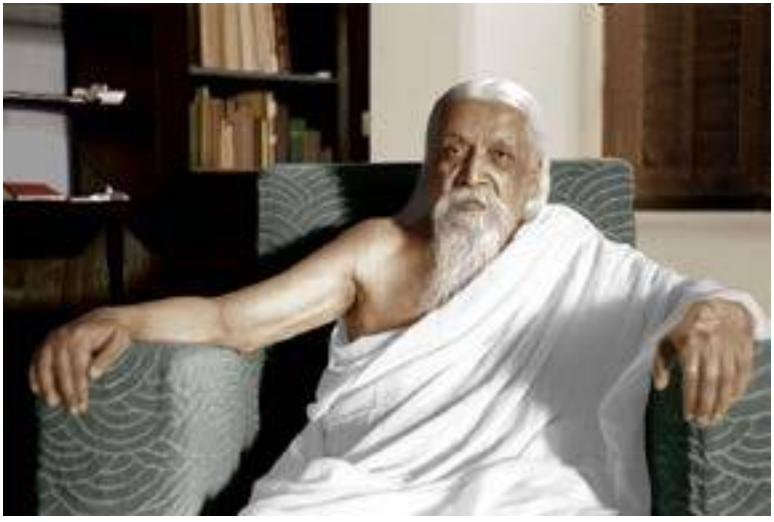

भाग १

साधना के तीन आधारभूत तत्त्व

विश्व में जो कुछ किया जाता है, सब में, समस्त क्रिया के पीछे ईश्वर अपनी शक्ति के माध्यम से विद्यमान रहते हैं, परन्तु वे अपनी योगमाया से आवृत रहते हैं और निम्न प्रकृति में जीव के अहंकार के माध्यम से कार्य करते हैं।

योग में भी ईश्वर ही साधक और साधना हैं; उन्हीं की शक्ति अपनी ज्योति, शक्ति, ज्ञान, चेतना, आनन्द के साथ आधार पर क्रिया करती है और जब आधार उनके प्रति उद्घाटित हो जाता है तब ये दिव्य शक्तियाँ उसमें प्रवाहित होने लगती हैं। और यही साधना को सम्भव बनाता है। किन्तु जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय है, साधक का व्यक्तिगत प्रयास आवश्यक रहता है।

जिस व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता पड़ती है वह त्रिविध श्रम है अभीप्सा, त्याग तथा समर्पण का...

SABCL खण्ड २५, पृ. ६ **श्रीअरविन्द**

अभीप्सा

श्रीअरविन्द के वचन

(जिस व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता पड़ती है वह है :)

... एक अभीप्सा जो सतर्क, सतत, अविच्छिन्न हो—मन का संकल्प, हृदय की चाह, प्राण-पुरुष की सहमति, उसके उद्घाटित होने तथा भौतिक चेतना और प्रकृति को नमनीय बनाने का संकल्प...

SABCL खण्ड २५, पृ. ६-७

अभीप्सा को कामना का कोई रूप नहीं होना चाहिये बल्कि उसे आन्तरिक आत्मा की एक आवश्यकता और भगवान् की ओर मुड़ने तथा भगवान् की खोज करने का एक स्थिर निश्चित संकल्प होना चाहिये।

सामान्यतः अपने लिए कोई चीज़ पाने की कामना नीचे खींचती है—अभीप्सा में, उच्चतर चेतना को अवरोहित करने तथा स्वयं को उसके अधिकार में दे देने के लिए आत्मोत्सर्ग होता है—पुकार जितनी तीव्र होगी आत्मोत्सर्ग उतना ही महानतर होगा।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५६७, ५६६

आध्यात्मिक अभीप्सा मनुष्य में स्वाभाविक होती है; क्योंकि वह पशु के विपरीत, अपनी अपूर्णता और सीमितता के प्रति जागरूक रहता है और महसूस करता है कि अभी वह जैसा है उससे परे उसे कुछ और चीज़ उपलब्ध करनी है...

अब तक जड़-द्रव्य में चिन्तनशील मन का यह विकास जीवित प्राणी की सचेतन अभीप्सा, अभिप्राय, संकल्प या प्रयास के कारण नहीं बल्कि प्रकृति की स्वचालित प्रक्रिया द्वारा अवचेतन या अन्तस्तलीय रूप से हुआ है... मनुष्य ने अनुभव किया है कि उसकी अपनी चेतना की अपेक्षा चेतना की एक उच्चतर स्थिति हो सकती है; उसके मन और प्राण के भागों में विकासात्मक उद्दीपन उपस्थित है, स्वयं को अतिक्रमित करने की अभीप्सा उसमें स्पष्ट रूप से अन्तर्निहित है।...

SABCL खण्ड १९, पृ. ८४३

योग की प्रक्रिया वस्तुओं के बाह्य रूपों व आकर्षणों में अन्तर्लीन मानव आत्मा की चेतना की अहम्मन्य स्थिति से उस उच्चतर सचेतन स्थिति की ओर घुमाव है जिसमें परात्पर तथा वैश्व चेतना वैयक्तिक ढाँचे में स्वयं को उँडेल सकें और उसे रूपान्तरित कर सकें। इसलिए सिद्धि का पहला निर्णायक तत्त्व है घुमाव की तीव्रता, वह बल जो आत्मा को अन्दर की ओर ले जाता है। हृदय की अभीप्सा की शक्ति, संकल्प का बल, मन की एकाग्रता, अनुपयुक्त या व्यावहारिक ऊर्जा का अध्यवसाय तथा दृढ़ निश्चय—ये हैं तीव्रता के मापदण्ड। आदर्श साधक के अन्दर बाइबल की शैली में यह कहने की क्षमता होनी चाहिये, "प्रभु के लिए मेरे उत्साह ने मुझे निगल लिया है।" प्रभु के लिए यही उत्साह—उत्साह, सम्पूर्ण प्रकृति का अपने दिव्य परिणाम के लिए जोश, व्याकुलता, भगवान् को पाने के लिए हृदय की उत्सुकता—यही अहंकार को नष्ट करता है। यही मानव आत्मा के तुच्छ और संकीर्ण ढाँचे की सीमाओं को तोड़ता है जिससे वह पूर्ण रूप से तथा व्यापक रूप से उसे ग्रहण कर सके जिसे वह खोजती है, उसे जो वैश्व होने के कारण अतिक्रमण करता है तथा परात्पर होने के कारण विशालतम व उच्चतम वैयक्तिक सत्ता व प्रकृति से भी परे है। SABCL खण्ड २०, पृ. ५१-५२

एक नयी आध्यात्मिक विचार-शक्ति को स्वीकार करना और सत्ता में ऊर्ध्वमुखता के अनुकूल मनोवृत्ति बनाना, एक प्रबोधन, संकल्प तथा हृदय की अभीप्सा द्वारा अधिकृत एक घुमाव या रूपान्तरण—यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसके अन्दर एक बीज के समान योग के सभी परिणाम समाहित हैं। मात्र विचार या किसी उच्चतर परे की चीज़ की बौद्धिक खोज, चाहे उसे मन की रुचि द्वारा कितनी भी प्रबलता से समझ लिया गया हो, तब तक निष्प्रभाव रहती है जब तक कि वह हृदय की एकमात्र वाञ्छनीय वस्तु या संकल्प का एकमात्र करने-योग्य कर्म न बन जाये। क्योंकि आत्मा के सत्य को केवल विचार तक ही सीमित नहीं रखना चाहिये बल्कि उसे जीवन में उतारना चाहिये। और उसे जीवन में उतारने के लिए सत्ता की एकीकृत मानसिक एकाग्रता की माँग की जाती है। योग द्वारा अपेक्षित इतने महान् परिवर्तन को एक खण्डित संकल्प या आंशिक ऊर्जा या अनिच्छुक

मन द्वारा सम्पादित नहीं किया जा सकता। भगवान् के जिज्ञासु को भगवान् को और केवल भगवान् को ही अपना सर्वस्व अर्पित करना होगा।
SABCL खण्ड २०, पृ. ६३-६४

चैत्य पुरुष में अभीप्सा होती है—भगवान् की ओर सम्पूर्ण निम्न प्रकृति, मन, प्राण, शरीर के उद्घाटन के लिए, भगवान् के साथ प्रेम एवं मिलन के लिए, हृदय में इनकी उपस्थिति तथा शक्ति के लिए, इस यान्त्रिक सत्ता तथा प्रकृति में उच्चतर चेतना के अवरोहण द्वारा मन, प्राण तथा शरीर के रूपान्तरण के लिए।
SABCL खण्ड २२, पृ. २८३-८४

माँग या कामना मानसिक या प्राणिक चेतना से आती है, परन्तु चैत्य या आध्यात्मिक आवश्यकता एक भिन्न वस्तु है। चैत्य माँग या कामना नहीं करता—वह अभीप्सा करता है। वह अपने समर्पण के लिए शर्तें नहीं रखता या अभीप्सा के तुरन्त पूरी न होने पर अपने-आपको खींच नहीं लेता—क्योंकि चैत्य को भगवान् में या गुरु में पूरा विश्वास होता है और वह भागवत कृपा के मुहूर्त या यथोचित समय के लिए प्रतीक्षा कर सकता है। चैत्य का अपना आग्रह होता है परन्तु वह अपना दबाव भगवान् पर नहीं बल्कि प्रकृति पर डालता है। वह वहाँ उन सभी दोषों पर ज्योति की उँगली रखता है जो सिद्धि के मार्ग में बाधक हैं। वह उस सबको छान कर बाहर निकाल लेता है जो अनुभव में या योग की गतिविधियों में मिश्रित, अज्ञानपूर्ण या अपूर्ण है। यह अपने-आपसे या प्रकृति से तब तक सन्तुष्ट नहीं होता जब तक यह इसे भगवान् के प्रति पूरी तरह उद्घाटित नहीं कर देता, अहंकार के सभी रूपों से मुक्त नहीं कर देता और इसे समर्पित, सरल तथा मनोवृत्ति में व सभी गतिविधियों में यथोचित नहीं बना देता। इसी को पूरी तरह मन, प्राण तथा भौतिक चेतना में स्थापित करना है...
SABCL खण्ड २४, पृ. १३९६-९७

अभीप्सा करते चलो तो आवश्यक प्रगति आकर रहेगी।

—श्रीमाँ

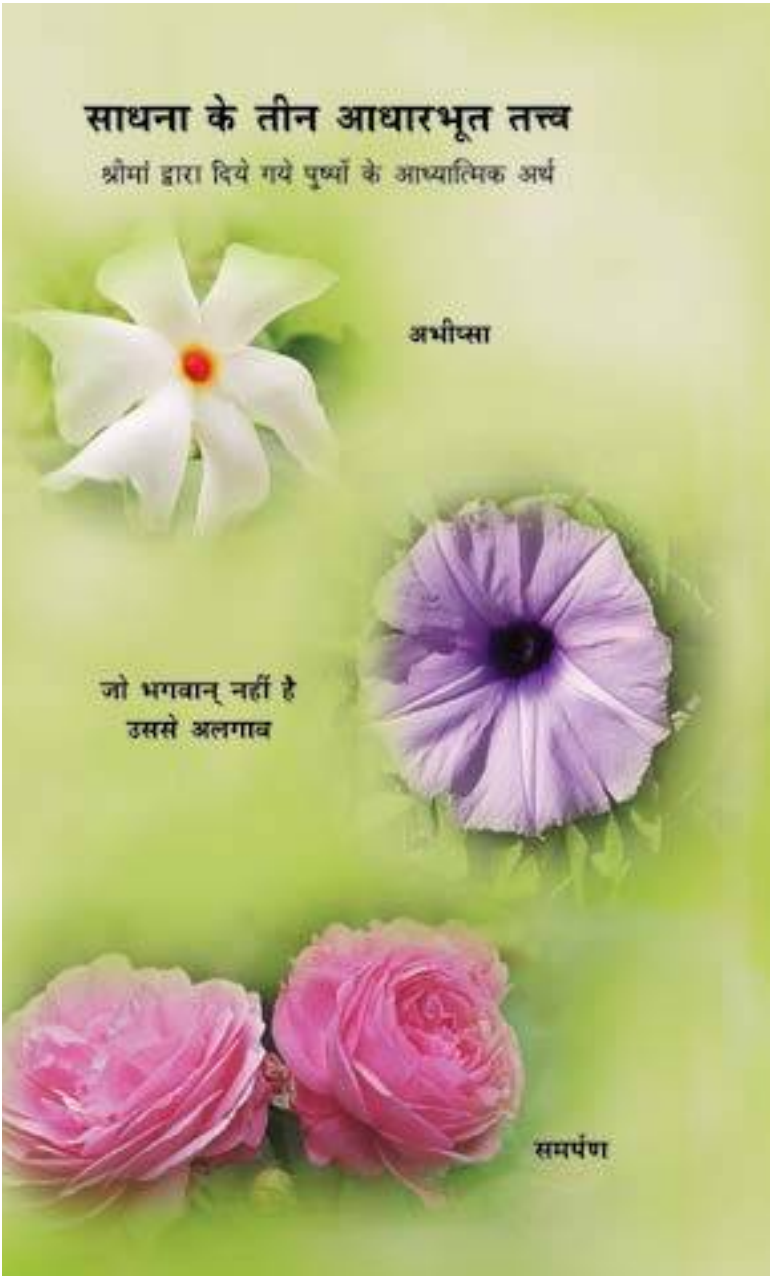
साधना के तीन आधारभूत तत्त्व
श्रीमां द्वारा दिये गये पुष्पों के आध्यात्मिक अर्थ
अभीप्सा
जो भगवान् नहीं है
उससे अलगाव
समर्पण

श्रीमाँ के वचन

सच्ची अभीप्सा का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

ऐसी अभीप्सा जिसमें किन्हीं पक्षपातभरे और अहंकारपूर्ण हिसाब-किताब का मिश्रण न हो।

शब्दों के परे, विचारों के ऊपर तीव्र अभीप्सा की ज्वाला को हमेशा निष्कम्प और उज्ज्वल होकर जलते रहना चाहिये।

हमारी एकमात्र अभीप्सा आध्यात्मिक प्रगति के लिए होनी चाहिये। केवल उसी के लिए हमें प्रार्थना करनी चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ७२,७५,७६

अगर तुम सचेतन अभीप्सा की अवस्था में हो, बहुत सच्चे हो तो बस, तुम्हारे इर्द-गिर्द सारी चीज़ें, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, अभीप्सा में मदद करने के लिए सुव्यवस्थित कर दी जायेंगी, यानी, या तो तुमसे प्रगति करवाने के लिए, किसी नयी चीज़ के सम्पर्क में लाने के लिए, या फिर तुम्हारे स्वभाव में एक ऐसी चीज़ को उखाड़ फेंकने में तुम्हारी मदद करेंगी जिसे विलुप्त हो जाना चाहिये। यह काफ़ी अद्‌भुत है। अगर तुम सचमुच अभीप्सा की तीव्रता की अवस्था में होओ तो ऐसी कोई परिस्थिति नहीं जो इस अभीप्सा को चरितार्थ करने के लिए तुम्हारी सहायता करने न आये। हर एक चीज़ मदद करने आती है, हर एक चीज़; मानों कोई ऐसी पूर्ण और निरपेक्ष चेतना विद्यमान है जो तुम्हारे चारों ओर सभी चीज़ों को संगठित कर रही है।...

अगर विश्वास के साथ तुम भगवान् से कहो: "मैं केवल आपको चाहता हूँ," तो भगवान् सभी परिस्थितियों को इस तरह व्यवस्थित कर देंगे कि तुम सच्चे होने के लिए विवश हो जाओगे। (लेकिन) सत्ता में कोई चीज़...(कहे) "मैं केवल आपको चाहता हूँ।..." अभीप्सा... और फिर व्यक्ति हर क्षण सैकड़ों फुटकर चीज़ें चाहता है, है न ऐसा? कभी-कभी कोई चीज़ आती है, यूँ ही... साधारणतः सब कुछ अस्तव्यस्त कर देने के लिए—वह रास्ते

में बाधा बन कर खड़ी हो जाती है और तुम्हें अपनी अभीप्सा को चरितार्थ करने से रोकती है। हाँ, तो ऐसे समय भगवान् अपने-आपको प्रकट किये बिना आयेंगे, तुम उन्हें देख न पाओगे, तुम्हें उनका कोई आभास तक न मिलेगा। और वे सब परिस्थितियों को इस तरह व्यवस्थित कर देंगे कि जो कुछ तुम्हें केवल भगवान् ही का होने से रोकता है वह अनिवार्य रूप से तुम्हारे पथ से हटा दिया जायेगा। फिर जब सब कुछ हटा दिया जाता है तो तुम शिकायत करने और रोने-धोने बैठ जाते हो। फिर बाद में, अगर तुम सच्चे हो और अपने ऊपर सीधी दृष्टि डाल सको... तुमने भगवान् से कहा है, तुमने कहा है : "मैं केवल आपको ही चाहता हूँ," वे तुम्हारे पास रहेंगे, बाक़ी सब कुछ चला जायेगा। यह सचमुच उच्चतर 'कृपा' है। केवल, तुम्हें यह पूरे विश्वास के साथ कहना चाहिये। मैं यह नहीं कह रही कि तुम्हें सर्वांगीण रूप से कहना चाहिये, क्योंकि अगर तुम सर्वांगीण रूप से कहो तो कार्य पूरा हो जाता है। जो चीज़ आवश्यक है वह यह है कि तुम्हारी सत्ता का एक अंश, वास्तव में केन्द्रीय संकल्प विश्वास के साथ कहे : "मैं केवल आपको ही चाहता हूँ।" केवल एक बार यह कहना पर्याप्त है : उसमें कम या अधिक समय लगता है, कभी-कभी तो वर्षों लग जाते हैं, लेकिन तुम लक्ष्य तक ज़रूर जा पहुँचते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १७४-७६

जब तुम योग-मार्ग पर आओ तो तुम्हें अपने मन के सभी महलों और प्राण की मचानों के ढाए जाने के लिए तैयार रहना चाहिये, तुम्हें श्रद्धा के सिवाय किसी भी सहारे के बिना हवा में अधर लटकने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें अपने भूतकाल के व्यक्तित्व और उसकी आसक्तियों को एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतना में से निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा जो समस्त बन्धनों से मुक्त हो। तुम क्या थे इसकी चिन्ता न करो, जो बनने की अभीप्सा करते हो केवल उसी का चिन्तन करो; जिस सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हो केवल उसी में तन्मय हो जाओ। मृत भूतकाल की ओर से मुँह मोड़ लो, सीधे भविष्य की ओर देखो। तुम्हारा धर्म, देश, परिवार वही है; वह है स्वयं "भगवान्"।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ८२

त्याग

श्रीअरविन्द के वचन

(जिस व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता है वह है :)

... निम्न प्रकृति की गतिविधियों का त्याग

—मन के विचारों, धारणाओं, प्राथमिकताओं, आदतों, मानसिक रचनाओं का त्याग जिससे नीरव मन में ज्ञान को रिक्त स्थान मिल सके,

—प्राणिक प्रकृति की कामनाओं, माँगों, लालसाओं, संवेदनों, आवेगों, स्वार्थ, अहंकार, अक्खड़पन, कामुकता, लालच, ईर्ष्या, डाह, सत्य के विरोध का त्याग जिससे ऊपर से सच्ची शक्ति और आनन्द का शान्त, विशाल, सुदृढ़ तथा समर्पित प्राणिक सत्ता में अवरोहण हो सके,

—भौतिक प्रकृति की मूढ़ता, सन्देह, अविश्वास, अस्पष्टता, हठ, क्षुद्रता, तमस्, परिवर्तन की अनिच्छा, आलस्य का त्याग जिससे अधिकाधिक दिव्यता की ओर सदा वर्धनशील शरीर में प्रकाश की सच्ची स्थिरता, शक्ति, आनन्द स्वयं को प्रतिष्ठित कर सकें...

SABCL खण्ड २५, पृ. ७

त्याग—अभीप्सा का एक उपसिद्धान्त

उत्कृष्ट क्रिया के सत्य को झुठलाने वाले निम्न प्रकृति के समस्त हस्तक्षेप को सबसे पहले निषिद्ध करना होगा या उसे निस्सहाय कर देना होगा और इसे हमारी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करना होगा। हमसे माँग की जाती है कि हम निम्न प्रकृति के आवेगों तथा मिथ्यात्वों को निरन्तर, बार-बार और सदा इन्कार करते रहें और जैसे-जैसे हमारे भागों में सत्य की वृद्धि होती है, आग्रहपूर्वक हम उसे समर्थन देते रहें। इसका कारण यह है कि हमारी प्रकृति में अन्तिम पूर्णता के साथ ऊपर से आने वाली ज्ञान-ज्योति, शुद्धता तथा शक्ति के क्रमशः स्थित हो जाने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसे मुक्त रूप से स्वीकार करें जिससे वह विकसित और पुष्ट हो सके तथा जो भी उसका विरोधी हो, निकृष्ट या असंगत हो, उसका हठपूर्वक त्याग करें।

आत्म-तैयारी की पहली गति में, व्यक्तिगत प्रयास की अवधि में, जो पद्धति हमें अपनानी है वह है भगवान् पर सम्पूर्ण सत्ता की एकाग्रता; यही हमारा लक्ष्य है और इसके उपसिद्धान्त के रूप में है यह सतत त्याग, यानी उस सबका विरेचन जो भगवान् का वास्तविक सत्य नहीं है। हम जो कुछ हैं, जो कुछ सोचते हैं, अनुभव करते हैं और जो कुछ करते हैं उस सबका पूर्ण समर्पण इस अध्यवसाय का परिणाम होगा।

SABCL खण्ड २०, पृ. ८०

दुर्भाग्यवश, इसमें विरोध आता है, एक अत्यन्त अन्धकारपूर्ण तथा दुराग्रही विरोध। इसके कारण आवश्यक रूप से योग में एक नकारात्मक तत्त्व आ जाता है, उन वस्तुओं के त्याग का तत्त्व जो मार्ग में बाधक हैं और उन रूपों के लुप्त हो जाने के दबाव का तत्त्व जो अनगढ़ और अनुपयोगी हैं तथा जो उपयोगी तो हैं पर हैं अपूर्ण या जो विकृत हो गये हैं उन पर अपने सच्चे स्वरूप को बनाये रखने या पुनर्प्राप्त करने के दबाव का तत्त्व। प्राण को यह दबाव बड़ा कष्टदायक प्रतीत होता है क्योंकि प्रथमतः यह अन्धकारपूर्ण है और समझता नहीं, दूसरा, क्योंकि इसके कुछ भाग अनगढ़ बने रहना चाहते हैं और परिवर्तित होना नहीं चाहते। यही कारण है कि चैत्य मनोवृत्ति का हस्तक्षेप बहुत सहायक सिद्ध होता है। क्योंकि चैत्य में एक सुखद आत्मविश्वास, तत्पर बोध तथा प्रत्युत्तर, और स्वाभाविक समर्पण होता है...

साथ ही साथ, गति के नकारात्मक पक्ष से नहीं बल्कि इसके सकारात्मक पक्ष से तुम्हें योग को समझना है; क्योंकि नकारात्मक पक्ष अस्थायी है, संक्रमणशील है और यह लुप्त हो जायेगा। केवल सकारात्मक पक्ष आदर्श अवस्था है तथा भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण है... यह योग जीवन को या भगवान् और साधक के बीच निकट सम्बन्ध को नकारता नहीं। इसके आदर्श का लक्ष्य है भौतिक तथा अन्य स्तरों पर महत्तम समीपता तथा एकता, सर्वाधिक दिव्य विशालता तथा जीवन की परिपूर्णता और आनन्द।

SABCL खण्ड २२, पृ. १२५-२६

भौतिक-मन, प्राणिक-मन तथा वैचारिक-मन की गतिविधियों का त्याग।

इस मन से निपटने के लिए दो चीज़ें आवश्यक हैं, (१) इसे नियन्त्रित करने या इससे युद्ध करने या इसे दबाने की कोशिश के बदले इससे पीछे हट जाना : इस पर नज़र रखो और देखो कि यह क्या है, परन्तु इसके विचारों के पीछे न भागो या उन वस्तुओं के चारों ओर न दौड़ो जिनका यह पीछा करता है। मन के पीछे अलग और शान्त बने रहो। (२) इस पृथक्ता में स्थिरता तथा एकाग्रता का तब तक अभ्यास करो जब तक स्थिरता का भौतिक मन पर नियन्त्रण न हो जाये और वह इन तुच्छ गतिविधियों का स्थान न ले ले। यह निस्सन्देह काफ़ी समय लेता है और केवल अभ्यास द्वारा ही आ सकता है।

निम्न प्राण के घेरे से मुक्ति

निम्न प्राणिक प्रकृति के इस घेरे से बचने का केवल एक ही मार्ग है। और वह है समस्त अहंकारी प्राणिक माँग, दावे तथा कामना का त्याग तथा असन्तुष्ट प्राणिक आवेग के स्थान पर चैत्य अभीप्सा की शुद्धता की स्थापना। इन प्राणिक कोलाहलों की तुष्टि नहीं, और न ही संन्यासी का एकान्त जीवन सच्चा समाधान है, बल्कि वह है भगवान् के प्रति प्राणिक सत्ता का समर्पण तथा परम सत्य के प्रति एकनिष्ठ आत्मदान जिसमें कामना तथा माँग प्रवेश नहीं कर सकतीं। क्योंकि परम सत्य की प्रकृति है प्रकाश तथा आनन्द, और जहाँ कामना तथा माँग होती हैं वहाँ आनन्द नहीं हो सकता।

SABCL खण्ड २४, पृ. १२६८, १३१२

भौतिक सत्ता के तमस् पर विजय

भौतिक में तमस्, धुँधलापन और असमर्थता तथा इनकी हठधर्मिता ही मार्ग में बाधक बन कर आती हैं। इस अप्रिय अवस्था में करने-लायक एकमात्र चीज़ है भौतिक सत्ता के तमस् से अधिक हठधर्मी होना और आग्रहपूर्वक अटल प्रयास करते रहना—बिना किसी अशान्त संघर्ष के स्थिर अध्यवसाय—जिससे इस ठोस चट्टानी रुकावट में भी एक विस्तृत तथा स्थायी उद्घाटन हो सके।

SABCL खण्ड २४, पृ. १४३१-३२

समर्पण

श्रीअरविन्द के वचन

(जिस व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता होती है, वह है :)

... हमारा तथा उस सबका जो हम हैं और जो कुछ हमारे पास है, तथा चेतना के प्रत्येक स्तर तथा प्रत्येक गति का भगवान् तथा उनकी शक्ति के प्रति समर्पण।

SABCL खण्ड २५, पृ. ७

अतिमानसिक योग का प्रथम शब्द है समर्पण; इसका अन्तिम शब्द भी समर्पण है। दिव्य चेतना में उठाने के लिए, पूर्णता तथा रूपान्तरण के लिए स्वयं को भगवान् को अर्पित कर देने के संकल्प से ही योग आरम्भ होता है। और पूर्ण समर्पण द्वारा ही यह चरम बिन्दु पर पहुँचता है। और केवल तभी जब आत्म-समर्पण पूर्ण हो जाता है, योग की अन्तिम अवस्था आती है, वह अवस्था जिसमें अतिमानसिक भगवान् हमें पूर्ण रूप से अधिग्रहण कर लेते हैं, जो सत्ता की पूर्णता तथा प्रकृति के रूपान्तरण की अवस्था है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३६७

यदि हम स्वयं को पूरी श्रद्धा और विश्वास के साथ भगवान् को सौंप दें तो भगवान् के द्वारा सब कुछ किया जा सकता है—हृदय तथा प्रकृति का शुद्धीकरण, आन्तरिक चेतना का जागरण, तथा आवरणों का निराकरण। और यदि हम तुरन्त उतनी पूर्णता से समर्पण नहीं कर सकते तब भी जितना अधिक हम करते हैं उतना ही अधिक हमें आन्तरिक सहायता और मार्गदर्शन प्राप्त होते हैं तथा हमारे अन्दर भगवान् की अनुभूति वर्धित होती है। यदि शंकालु मन कम सक्रिय हो तथा विनम्रता व समर्पण का संकल्प विकसित हो तब इसे पूर्ण रूप से सम्भव होना चाहिये। तब कोई अन्य शक्ति तथा तपस्या आवश्यक नहीं है, केवल यही पर्याप्त होगा।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५८८

सक्रिय समर्पण उसे कहते हैं जब तुम भागवत संकल्प से अपने संकल्प को संयुक्त कर देते हो, जो भागवत नहीं है उसे अस्वीकार कर देते हो और जो भागवत है उससे सहमत हो जाते हो। निष्क्रिय समर्पण उसे कहते हैं जब हर चीज़ पूरी तरह भगवान् पर छोड़ दी जाती है—जिसे वास्तव में बहुत कम लोग कर सकते हैं, क्योंकि व्यवहार में यह ऐसा हो जाता है कि तुम भगवान् को समर्पण करने की ओट में निम्न प्रकृति को समर्पण कर देते हो।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५९१

जड़-निष्क्रियता को वास्तविक समर्पण मान बैठने की भ्रान्ति हमेशा हो जाती है, किन्तु जड़-निष्क्रियता से कोई सच्ची तथा शक्तिशाली चीज़ नहीं आ सकती। भौतिक प्रकृति की जड़-निष्क्रियता ही हमें हर अन्धकारपूर्ण या अदिव्य प्रभाव के वश में छोड़ देती है। भागवत शक्ति की कार्यप्रणाली प्रसन्नचित्त, दृढ़ तथा उपयोगी आत्मसमर्पण की माँग करती है, सत्य के ज्योतिर्मय शिष्य से, आन्तरिक योद्धा से जो अन्धकार तथा मिथ्यात्व से युद्ध करता है, भगवान् के निष्ठावान् सेवक से आज्ञाकारिता की अपेक्षा रखती है।

समर्पण अन्दर से हो, मन, प्राण, भौतिक सबका श्रीमाँ के प्रति उद्घाटन तथा समर्पण, जिससे वे उन्हें अपना बना कर उनकी सच्ची सत्ता में—जो भगवान् का एक अंश है—पुनर्रचना कर दें। बाकी सब परिणाम के रूप में होता जायेगा।

SABCL खण्ड २५, पृ. ४-५, २७३

समर्पण से मेरा तात्पर्य है मन तथा प्राण का यह आन्तरिक समर्पण। निस्सन्देह, बाह्य समर्पण भी होता है : उस सबका समर्पण जो आत्मा के साथ या साधना की आवश्यकता के साथ असंगत हो; भगवान् के मार्गदर्शन के प्रति समर्पण व आज्ञापालन—प्रत्यक्ष रूप से सीधे यदि कोई साधक उस स्तर तक पहुँच गया हो, या चैत्य के माध्यम से या गुरु के मार्गदर्शन के द्वारा पहुँचा हो।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५८७

जिस पद्धति का हमें अनुसरण करना है वह है... हमारी अपनी सम्पूर्ण सचेतन सत्ता को भगवान् के सम्पर्क में रखना और अपनी सम्पूर्ण सत्ता को उनकी सत्ता में रूपान्तरण के लिए उन्हें पुकारना। इस प्रकार एक तरह से भगवान् स्वयं जो हमारा सच्चा स्वरूप हैं, साधना के साधक और योग के स्वामी बन जाते हैं जिनके द्वारा निम्न व्यक्तित्व दिव्य रूपान्तरण के केन्द्र तथा अपनी पूर्णता के यन्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।...

मनोवैज्ञानिक तथ्य में यह पद्धति अहंकार के अपने पूरे क्षेत्र और सामग्री के साथ अहंकार से परे की उस शक्ति के प्रति क्रमशः समर्पण के रूप में बदल जाती है जिसकी कार्यप्रणाली विराट् और गणनातीत है पर सदा अपरिहार्य होती है।

SABCL खण्ड २०, पृ. ४०-४१

श्रीमाँ के वचन

(समर्पण की प्रक्रिया)

तुम ज्ञान के द्वारा या भक्ति के द्वारा समर्पण कर सकते हो। तुम्हें प्रबल अन्तर्भास हो सकता है कि केवल भगवान् सत्य हैं और एक ज्योतिर्मय विश्वास हो सकता है कि भगवान् के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता। या तुम्हारे अन्दर सहज रूप से यह भाव उठ सकता है कि सुखी होने का यही एकमात्र मार्ग है, एक प्रबल चैत्य इच्छा हो सकती है कि तुम पूरी तरह भगवान् के हो जाओ, तुम कहो: "मैं स्वयं अपना मालिक नहीं हूँ," और अपनी सत्ता की पूरी ज़िम्मेदारी 'सत्य' को सौंप दो। इसके बाद आता है आत्म-निवेदन...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १२५

आरम्भ में तुम साधारण रूप से अपने-आपको देना शुरू करते हो मानों सदा के लिए तुम्हारा यह काम पूरा हो गया। तुम कहते हो: "मैं भगवान् का सेवक हूँ, मेरा जीवन पूर्ण रूप से भगवान् को दे दिया गया है, मेरे सभी प्रयत्न दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए हैं।" पर यह तो केवल पहला क़दम है; केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस संकल्प के बाद भी,

इस निश्चय के बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवन को भगवान् के अर्पण कर दोगे, तुम्हें यह बात अपने जीवन में प्रत्येक क्षण याद रखनी होगी और इसे अपने प्रत्येक ब्योरे में चरितार्थ करना होगा। तुम्हें प्रत्येक पग पर यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान् के हो, तुम्हें हमेशा यह अनुभूति होनी चाहिये कि तुम जो कुछ सोचते या करते हो, उसमें हमेशा भागवत चेतना ही तुम्हारे द्वारा कार्य करती है। अपनी कह सकने के लिए अब तुम्हारे पास कोई चीज़ नहीं होती; जो कुछ तुम्हारे पास आये उसे भगवान् के यहाँ से आया हुआ अनुभव करो और उसे उसके मूल स्रोत की भेंट कर दो। इस अनुभूति को प्राप्त कर लेने पर अत्यन्त सामान्य-से-सामान्य चीज़, जिस पर तुम ध्यान नहीं देते या जिसकी साधारणतः परवाह नहीं करते, वह भी अकिञ्चन या तुच्छ नहीं रह जाती; वह अर्थपूर्ण हो जाती है और तुम्हारी दृष्टि के सामने दूर तक देख सकने के लिए एक विशाल क्षितिज खोल देती है।

सामान्य रूप से किये गये उत्सर्ग को जीवन के प्रत्येक ब्योरे में लाने का तरीक़ा यह है : हमेशा भगवान् की उपस्थिति में ही निवास करो; इस अनुभूति में रहो कि यह उपस्थिति ही तुम्हारी प्रत्येक क्रिया को गति देती है और जो कुछ तुम करते हो उसे वही कर रही है। अपने सभी क्रिया-कलापों को इसी को समर्पित कर दो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भाव को ही नहीं, बल्कि अत्यन्त साधारण और बाह्य क्रियाओं को भी, उदाहरणार्थ, भोजन भी उसी को अर्पित कर दो; जब तुम भोजन करो तो तुम्हें अनुभव होना चाहिये कि इस क्रिया में तुम्हारे द्वारा भगवान् ही भोजन कर रहे हैं। जब तुम इस प्रकार अपनी समस्त प्रवृत्तियों को एक 'अखण्ड जीवन' में एकत्रित कर सकोगे तब तुम्हारे अन्दर भेदभाव की जगह एकता होगी। तब यह अवस्था न रहेगी कि तुम्हारी प्रकृति का एक भाग तो भगवान् के अर्पित हो और बाकी भाग अपनी साधारण वृत्तियों में पड़े रहें और साधारण चीज़ों में लिप्त रहें, बल्कि तब तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन को भगवान् अपने हाथ में ले लेंगे और क्रमशः तुम्हारी प्रकृति का सम्पूर्ण रूपान्तर होने लगेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २२-२३

और एक बार आत्मोत्सर्ग पूरा हो जाये तो आत्म-निवेदन की बारी आती है : यह उपलब्धि की सम्पूर्ण प्रक्रिया का मुकुट है, सोपान की अन्तिम सीढ़ी है। इसके बाद कोई कठिनाई नहीं आती, सब कुछ आसानी से होता जाता है, लेकिन यह न भूलो कि तुम एकदम आत्म-निवेदन नहीं कर सकते। दो-एक दिनों के लिए किसी विशेष प्रकार की प्रबल गति हो तो तुम्हें इस प्रकार का भ्रम हो जाता है। तुम्हारे अन्दर यह आशा जाग जाती है कि उसके परिणामस्वरूप सब चीज़ें अपने-आप होती चलेंगी। लेकिन वास्तव में, यदि तुम ज़रा भी आत्मसन्तुष्ट हो जाओ तो तुम अपने-आप अपनी प्रगति को रोकते हो। क्योंकि तुम्हारी सत्ता आपस में लड़ती-झगड़ती, युद्ध करती प्रवृत्तियों से भरी है जिन्हें हम विभिन्न व्यक्तित्व कह सकते हैं। जब उनमें से एक अपने-आपको भगवान् को देता है तो दूसरे उठ कर भक्ति या निष्ठा अर्पित करने से इन्कार करते हैं।... तुम्हें बड़े धीरज के साथ अपनी सारी सत्ता का चक्कर लगाना होगा, हर स्थान की, हर कोने की तलाशी लेनी होगी, उन सभी अराजक तत्त्वों का सामना करना होगा जो तुम्हारे अन्दर उभरने के लिए मनोवैज्ञानिक क्षण की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १२६

जब हम मानसिक प्रवृत्तियों में अथवा बुद्धि के व्यापारों में एकाग्र रहते हैं, तब कभी-कभी भगवान् को क्यों भूल जाते अथवा उनका स्पर्श क्यों गँवा बैठते हैं?

तुम इसलिए गँवा बैठते हो क्योंकि तुम्हारी चेतना अभी तक बँटी हुई है। तुम्हारे मन में भगवान् अभी तक अच्छी तरह बसे नहीं हैं; अभी तक तुम दिव्य जीवन पर पूर्ण रूप से न्योछावर नहीं हुए हो। नहीं तो इस प्रकार के कामों में तुम चाहे जितने लीन क्यों न रहो, फिर भी तुम्हें यह भान रहेगा कि भगवान् तुम्हारी सहायता कर रहे हैं और तुम्हें सहारा दिये हुए हैं।

अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति में, चाहे वह बौद्धिक हो या सक्रिय, तुम्हारा एकमात्र मन्त्र होना चाहिये : "स्मरण और समर्पण"। तुम जो कुछ करो वह सब भगवान् के अर्पण हो। यह तुम्हारे लिए एक सुन्दर साधना बन जायेगी और अनेक मूर्खतापूर्ण और निरर्थक चीज़ों से तुम्हारी रक्षा करेगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २५-२६

जिस अवस्था को प्राप्त करना है, जो योग की वास्तविक उपलब्धि, अन्तिम पूर्णता और सिद्धि है, जिसके लिए बाक़ी सब कुछ केवल तैयारी है, वह है एक ऐसी चेतना जिसमें भगवान् के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। तब यदि तुम भगवान् के बिना रहो तो तुम्हारी क्रिया का स्रोत ही लुप्त हो जाता है, ज्ञान, शक्ति सब कुछ चले जाते हैं।...

जब भी तुम्हें यह दिखायी दे कि तुम भगवान् की उपस्थिति का अनुभव किये बिना ही कोई काम कर सकते हो और फिर भी चैन से रह सकते हो, तभी तुम्हें समझना चाहिये कि तुम्हारी सत्ता के उस भाग का अभी तक समर्पण नहीं हुआ है। यह तो साधारण मानव समाज का तरीक़ा है जिसे भगवान् की कोई ज़रूरत नहीं मालूम पड़ती। परन्तु दिव्य जीवन के साधक का मार्ग सर्वथा भिन्न है। और जब भगवान् के साथ तुम्हारी पूर्ण रूप से एकता हो जाये तो, यदि क्षण-भर के लिए भी भगवान् अपने-आपको तुमसे अलग कर लें तो तुम मर जाओगे। क्योंकि तब भगवान् ही तुम्हारे प्राण के प्राण, तुम्हारा समग्र अस्तित्व, तुम्हारा एकमात्र सहारा होते हैं। तब यदि भगवान् न हों तो तुम्हारे पास कुछ रह ही नहीं जाता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २६-२७

उदाहरण के लिए, तुमने अपना जीवन भगवान् को निवेदित करने का निश्चय कर लिया। लेकिन अचानक तुम्हारे साथ कोई बहुत ही अप्रिय, अप्रत्याशित घटना घटती है और तुम्हारी पहली क्रिया होती है प्रतिक्रिया की, विरोध की, फिर भी तुमने अर्पण तो किया ही है, तुमने एक बार में ही कह दिया है : "मेरा जीवन भगवान् का है।" और अचानक कोई बहुत ही अप्रिय घटना होती है (ऐसा हो सकता है), और तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ है जो प्रतिक्रिया करती है, जो उसे नहीं चाहती। लेकिन यहाँ, अगर तुम अपने निवेदन में सचमुच युक्तिसंगत होना चाहो तो तुम्हें इस अप्रिय घटना को सामने लाकर भगवान् के आगे निवेदित कर देना चाहिये और बहुत निष्कपट भाव से उनसे कहना चाहिये : "भगवान्, तुम्हारी इच्छा पूरी हो; अगर तुमने इस तरह किया है तो यह इसी तरह होगा।" और यह एक स्वेच्छापूर्वक किया गया सहज लगाव होना चाहिये। और यह बहुत कठिन है।

छोटी-से-छोटी चीज़ के लिए भी, जो चीज़ उससे मेल नहीं खाती

जिसकी तुमने आशा की थी, जिसके लिए तुमने काम किया है, एक विरोधी प्रतिक्रिया होने की जगह, तुम सहज भाव से, अप्रतिरोध्य रूप से पीछे हटते हो : "नहीं, नहीं, यह नहीं"—अगर तुमने पूर्ण समर्पण, सम्पूर्ण समर्पण किया है, तो यह नहीं हो सकता, तुम एक अवस्था में भी उतने ही अचञ्चल, शान्त, स्थिर बने रहो जितने दूसरी अवस्था में। शायद तुम्हारा ख़याल था कि चीज़ अगर एक तरह से हो तो ज़्यादा अच्छा होगा, लेकिन अगर वह दूसरी तरह से हो तो तुम्हें वह भी ठीक लगता है। उदाहरण के लिए, तुमने किसी चीज़ के लिए बहुत मेहनत की होगी ताकि अमुक परिणाम आये, तुमने बहुत समय लगाया होगा, बहुत शक्ति, बहुत इच्छा-शक्ति लगायी होगी—और यह सब अपने लिए नहीं, बल्कि मान लो, भगवान् के लिए (यह आत्म-निवेदन है); अब मान लो कि इतना कष्ट उठाने के बाद, इतना काम करने के बाद, इतने प्रयास के बाद भी, सारी चीज़ उलटी दिशा में चली जाये, सफलता न मिले... अगर तुम सचमुच समर्पित हो तो तुम कहते हो : "यह अच्छा है, यह सब अच्छा है, यह बिलकुल ठीक है। मैं जो कुछ कर सकता था कर चुका, जितना अच्छा कर सकता था किया। अब यह मेरा निर्णय नहीं है, यह भगवान् का निर्णय है, वे जो कुछ निर्णय करें वह मुझे पूरी तरह स्वीकार है।" दूसरी ओर, अगर तुम्हारे अन्दर यह गहरा और सहज समर्पण नहीं है तो तुम अपने-आपसे कहते हो : "यह कैसे! मैंने यह करने के लिए इतना कष्ट उठाया, यह मेरे स्वार्थ के लिए नहीं, भगवान् के काम के लिए है—और परिणाम यह आया। यह असफल रहा!" सौ में से निन्यानबे बार यही होता है।

सच्चा समर्पण बहुत कठिन चीज़ है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४९-५०

जब प्राण सहयोग देना स्वीकार कर लेता है—जो अपने-आपमें एक बड़ा क़दम है—जब वह निश्चय कर लेता है कि वह काम करेगा, अपना सारा प्रयास, अपनी सारी ऊर्जा काम सिद्ध करने में लगा देगा, तब भी कहीं नीचे अच्छी तरह छिपी हुई एक प्रकार की—उसे क्या कहें?—एक प्रत्याशा रहती है कि चीज़ें ठीक ढर्रे पर चलेंगी और परिणाम अनुकूल होगा। और यह चीज़ पूर्ण निष्कपटता पर परदा डाल देती है। क्योंकि यह प्रत्याशा

एक अहंकारपूर्ण, व्यक्तिगत चीज़ है जो पूर्ण सच्चाई को छिपा देती है।...

जब तुम कुछ चीज़ करते हो तो वे दो, मन और प्राण, हमेशा मौजूद होते हैं और तुम जो कर रहे हो उससे कुछ लाभ उठाना चाहते हैं : आत्म-सन्तोष का लाभ, सुख का लाभ, अपने बारे में अच्छी राय का लाभ। अपने-आपको धोखा न देना मुश्किल है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ५०-५१

क्या एक उत्तम सेवक की तरह अपना कर्म निवेदित करना समर्पण नहीं कहलाता?

कर्म एक अच्छी साधना है। परन्तु यह वह भावना नहीं है, यह कोई निष्क्रिय, अचेतन और प्रायः अनैच्छिक अधीनता की भावना नहीं है। यह वह चीज़ नहीं है। यह चीज़ केवल कर्म में नहीं पायी जाती।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समर्पण है तुम्हारे चरित्र का, तुम्हारी जीवन-विधि का समर्पण ताकि वह बदल सके। यदि तुम स्वयं अपनी प्रकृति का समर्पण न करो तो यह प्रकृति कभी परिवर्तित नहीं होगी। बस, यही चीज़ है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तुम किन्हीं विशेष तरीक़ों से समझते हो, विशेष ढंगों से प्रतिक्रिया करते हो, विशेष रूपों में अनुभव करते हो, लगभग विशेष रीतियों से प्रगति करते हो, और सबसे बढ़ कर, एक विशेष दृष्टि से जीवन की ओर दृष्टिपात करते और उससे विशेष वस्तुओं की आशा करते हो—हाँ, बस इसे ही तुम्हें समर्पित करना होगा। कहने का मतलब, यदि तुम वास्तव में दिव्य 'ज्योति' पाना और रूपान्तरित होना चाहते हो तो तुम्हें अपनी सत्ता और जीवन के पूरे तौर-तरीक़े को अर्पित कर देना होगा—उसे उद्घाटित करके, यथासाध्य अधिक-से-अधिक ग्रहणशील बना कर अर्पित करना होगा ताकि दिव्य 'चेतना' जो यह देखती है कि तुम्हें कैसा होना चाहिये, सीधे रूप में कार्य कर सके और इन समस्त क्रियाओं को अधिक सत्य क्रियाओं में, तुम्हारे यथार्थ सत्य के साथ अधिक संगत क्रियाओं में परिवर्तित कर सके। यह बात अपने कर्मों को समर्पित करने की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक आवश्यक है। सच पूछा जाये तो मनुष्य जो कुछ करता है (वह जो कुछ करता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है यह तो स्पष्ट

ही है) वह नहीं, बल्कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह क्या है। कार्य-कलाप चाहे जो हो, वास्तव में कार्य जिस तरह किया जाता है वह नहीं, बल्कि चेतना की जिस स्थिति में वह किया जाता है वह महत्त्वपूर्ण है। तुम काम कर सकते हो, व्यक्तिगत लाभ की किसी भावना से रहित होकर निष्काम कर्म कर सकते हो, कार्य करने के आनन्द के लिए कार्य कर सकते हो, परन्तु यदि तुम उसके साथ-ही-साथ उस कर्म को छोड़ने के लिए, कर्म को बदलने के लिए अथवा कर्म की विधि को बदलने के लिए तैयार न होओ, यदि तुम अपनी ही कर्म-पद्धति से चिपके रहो, तो तुम्हारा समर्पण पूर्ण नहीं है। तुम्हें एक ऐसी स्थिति में आना होगा जिसमें प्रत्येक चीज़ इसलिए की जाती है कि तुम अपने अन्दर, बहुत स्पष्ट रूप में, अधिकाधिक अत्यावश्यक रूप से यह अनुभव करो कि बस यही चीज़ है जो की जानी चाहिये और इसी विशिष्ट पद्धति से की जानी चाहिये और तुम उसे केवल उसके कारण ही करते हो। तुम किसी आदत, आसक्ति या पसन्दगी के कारण, या यहाँ तक कि किसी धारणा के वश, यहाँ तक कि इस भावना की वरीयता के वश कि बस यही करने-योग्य सबसे उत्तम चीज़ है, उसे नहीं करते—अन्यथा तुम्हारा समर्पण सर्वांगपूर्ण नहीं है।...

"हाँ, कर्म करो, वही तुम्हारे समर्पण का पथ है," पर यह प्रारम्भमात्र है। इस पथ को वर्धनशील होना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३८३-८५

पथ लम्बा है लेकिन आत्म-समर्पण उसे छोटा कर देता है, मार्ग कठिन है पर पूरा भरोसा उसे सरल बना देता है।

ब्योरेवार समर्पण : ऐसा समर्पण जो किसी चीज़ को नहीं भूलता।

—श्रीमाँ

भाग २

साधना के लिए पाँच आन्तरिक गुणों की आवश्यकता

श्रीमाँ अपने हाथ में सफ़ेद चम्पा पुष्प लिये हैं और उसे दिखा रही हैं। उस फूल का नाम उन्होंने 'आन्तरिक परिपूर्णता' दिया है।

यह किसको याद है?

(उसके दलों को गिनते हुए) एक, दो, तीन, चार, पाँच आन्तरिक परिपूर्णताएँ हैं। ये पाँच आन्तरिक परिपूर्णताएँ कौन-कौन-सी हैं?...

श्रीअरविन्द ने कहा है... कि योग करने के लिए समर्पण सबसे पहली और चरम शर्त है।... तो यह आवश्यक गुणों में से कोई एक गुण नहीं है : यह तो योग आरम्भ करने की सबसे पहली अनिवार्य स्थिति है। यदि किसी ने सम्पूर्ण रूप से समर्पण करने का निश्चय नहीं किया है तो वह प्रारम्भ नहीं कर सकता।

परन्तु इस समर्पण को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए ये सभी गुण आवश्यक हैं।...

अतएव, मेरा प्रस्ताव यह है : हम समर्पण को रखते हैं सबसे पहले, सबसे ऊपर, अर्थात्, हम श्रीअरविन्द की कही हुई बात स्वीकार करते हैं कि, पूर्णयोग की साधना करने के लिए व्यक्ति को सबसे पहले भगवान् के प्रति पूर्ण रूप से समर्पण करने का संकल्प करना चाहिये, दूसरा कोई पथ नहीं है, यही है 'एकमात्र पथ'। परन्तु उसके बाद मनुष्य के अन्दर ये पाँच आन्तरिक गुण, पाँच आन्तरिक परिपूर्णताएँ अवश्य होनी चाहियें और हम कहते हैं कि ये परिपूर्णताएँ हैं :

सच्चाई या पारदर्शकता
श्रद्धा या विश्वास (स्वभावतः, भगवान् में विश्वास)
भक्ति या कृतज्ञता
साहस या अभीप्सा
सहिष्णुता या अध्यवसाय।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३९,४४-४६

साधना के लिए पांच आन्तरिक गुणों की आवश्यकता

श्रीमां द्वारा दिये गये पुष्पों के आध्यात्मिक अर्थ

सच्चाई

भगवान् में विश्वास

साहस

कृतज्ञता

अध्यवसाय

सच्चाई या पारदर्शिता

श्रीमाँ के वचन

... सभी पूर्णताओं में जो सर्वप्रथम है, वह है सच्चाई। कारण, यदि सच्चाई न हो, तो मनुष्य आधा पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव, यह है पहली चीज़, और यह हमेशा यहाँ रहती है।

परन्तु इसे एक दूसरे शब्द के द्वारा अनूदित करना सम्भव है, यदि कोई पसन्द करे, और वह होगा "पारदर्शिता"। मैं इस शब्द की व्याख्या कर दूँ :

कोई व्यक्ति मेरे सामने उपस्थित है और मैं उसकी ओर देखती हूँ; मैं उसकी आँखों में देखती हूँ। और यह व्यक्ति यदि सद्हृदय अथवा "पारदर्शक" होता है तो उसकी आँखों के द्वारा मैं उसके अन्दर पैठ जाती हूँ और उसकी अन्तरात्मा को देखती हूँ—स्पष्ट रूप में। परन्तु—ठीक यही अनुभव होता है—जब मैं किसी व्यक्ति की ओर निहारती हूँ और थोड़ा-सा मेघ देखती हूँ, तब मैं आगे बढ़ती हूँ, मैं एक परदा देखती हूं, और फिर, कभी-कभी वहाँ एक दीवाल होती है और उसके बाद वहाँ कोई बिलकुल काली चीज़ होती है; और इन सबको पार करना होता है और छिद्र बनाने होते हैं जिनमें से होकर और आगे बढ़ा जाये; और उसके बाद भी मैं निस्सन्दिग्ध नहीं होती कि अन्तिम क्षण में मेरे सम्मुख कोई काँसे का दरवाज़ा नहीं उपस्थित हो जायेगा जो इतना मोटा होगा कि मैं उसके पार कभी नहीं जा सकूँगी और न उसकी अन्तरात्मा को देख सकूँगी, तब, ऐसे व्यक्ति के विषय में मैं तुरत कह सकती हूँ कि वह सच्चा नहीं है। परन्तु मैं लाक्षणिक रूप में यह भी कह सकती हूँ कि वह पारदर्शक नहीं है।

यही है पहली चीज़।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४०-४१

सच्चाई का अर्थ है सत्ता की सभी गतिविधियों को अभी तक प्राप्त उच्चतम चेतना और उपलब्धि तक उठाना।

सच्चाई समस्त सत्ता के सभी भागों और क्रिया-कलाप को केन्द्रीय 'भागवत इच्छा' के चारों ओर एक और समस्वर करने की माँग करती है।

सच्चाई देवत्व का दरवाज़ा है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ६५

मुझे किस चीज़ का सबसे अधिक विकास करना चाहिये? और किस चीज़ का सबसे अधिक परित्याग?

विकास—सच्चाई (यह भगवान् के रास्ते पर पूर्ण संलग्नता है)।
त्याग—पुरानी मानव आदतों के खिंचाव का।

तुम्हारी साधना में महत्त्वपूर्ण चीज़ है पग-पग पर सच्चाई। अगर वह हो तो भूलें सुधारी जा सकती हैं और उनका बहुत महत्त्व नहीं होता। अगर ज़रा भी कपट हो तो वह तुरन्त साधना को नीचे खींच लेता है। लेकिन यह सतत सच्चाई मौजूद है या किसी बिन्दु पर पतन हो जाता है—यह एक ऐसी चीज़ है जिसे तुम्हें अपने अन्दर देखना सीखना होगा; अगर उसके लिए गम्भीर और निरन्तर इच्छा हो, तो उसे देखने की शक्ति आ जायेगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ६७,६८

सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि सच्चाई या सत्यनिष्ठा प्रगतिशील है, और जैसे-जैसे सत्ता प्रगति करती और विकसित होती जाती है, जैसे-जैसे विश्व अभिव्यक्ति के अन्दर उद्घाटित होता जाता है, वैसे-वैसे सत्यनिष्ठा को भी अन्तहीन रूप में पूर्ण बनाते जाना चाहिये। इस विकास-क्रम का प्रत्येक पड़ाव आवश्यक रूप से बीते कल की सच्चाई को भावी कल की अ-सच्चाई या कपट में परिणत कर देता है।

पूर्णतः सच्चा होने के लिए यह आवश्यक है कि कोई पसन्द, कोई कामना, कोई आकर्षण, कोई नापसन्द, कोई सहानुभूति या विद्वेष, कोई आसक्ति, कोई विकर्षण न हो। हमें वस्तुओं का एक पूर्ण, सर्वांगीण अन्तर्दर्शन प्राप्त हो, जिसमें प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर हो और सभी वस्तुओं के प्रति हमारा एक ही मनोभावः सत्य-दर्शन का मनोभाव हो। यह कार्यक्रम किसी मनुष्य के लिए पूरा करना स्पष्ट ही बहुत कठिन है। जब तक कि वह स्वयं को दिव्य रूप में रूपान्तरित करने का निश्चय नहीं कर

लेता, उसका अपने अन्दर की इन सभी विपरीत वस्तुओं से मुक्त होना लगभग असम्भव प्रतीत होता है। और फिर भी, जब तक वह अपने अन्दर उन्हें वहन करता है, वह पूर्ण रूप से सत्यनिष्ठ नहीं हो सकता। अपने-आप ही मानसिक, प्राणिक, यहाँ तक कि भौतिक क्रियावली भी मिथ्या बन जाती है। मैं भौतिक पर ज़ोर दे रही हूँ, क्योंकि इन्द्रियों की क्रिया भी दोषपूर्ण हो जाती है : जब तक मनुष्य में कोई पसन्द होती है, वह वस्तुओं को उनके सत्य-रूप में न देखता, न सुनता, न चखता और न ही अनुभव करता है। जब तक ऐसी चीज़ें हैं जो तुम्हें अच्छी लगती हैं और ऐसी चीज़ें हैं जो अच्छी नहीं लगतीं, जब तक तुम किन्हीं विशेष वस्तुओं से आकर्षित होते और दूसरी वस्तुओं से विकर्षण अनुभव करते हो, तुम वस्तुओं को उनके सत्य-स्वरूप में नहीं देख सकते; तुम उन्हें अपनी प्रतिक्रिया, अपनी पसन्द या नापसन्द में से देखते हो। इन्द्रियाँ माध्यम हैं जो अव्यवस्थित हो जाती हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह संवेदनाएँ, हृद्‌गत भावनाएँ और विचार हो जाते हैं। अतः, तुम जो कुछ देखते, जो कुछ स्पर्श करते, जो कुछ अनुभव करते और सोचते हो उसके बारे में निस्सन्दिग्ध होने के लिए तुम्हारे अन्दर एक प्रकार की पूर्ण अनासक्ति होनी चाहिये; और यह, बहुत स्पष्ट रूप में, कोई आसान काम नहीं है। परन्तु उस क्षण तक तुम्हारा ज्ञान पूरी तरह सही नहीं हो सकता और इस कारण वह सच्चा नहीं है।

स्वभावतः, यह है सर्वोच्च अवस्था। परन्तु कुछ स्थूल अ-सच्चाइयाँ या कपट भी हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति समझता है और जिन पर, मैं समझती हूँ, और ज़ोर देना ज़रूरी नहीं है। उदाहरणार्थ, कहना एक बात और सोचना दूसरी बात, एक काम करने का दिखावा करना और सचमुच में करना दूसरा, एक ऐसी इच्छा प्रकट करना जो तुम्हारी सच्ची इच्छा नहीं है। मैं बिलकुल भयंकर झूठों की, तथ्य से भिन्न किसी दूसरी बात को कहने की चर्चा नहीं कर रही, बल्कि कार्य करने की वह कूटनैतिक विधि, कार्य के द्वारा कोई चीज़ सिद्ध करने की भावना के साथ कार्य करना, कोई बात कहना और उससे कोई विशेष प्रभाव की आशा करना, इस प्रकार का प्रत्येक मिश्रण जो स्वाभाविक रूप में तुमसे स्वयं अपना ही खण्डन कराता है वह सब भी एक प्रकार का काफ़ी स्थूल कपट है जिसे हर एक आसानी से पहचानता है।

परन्तु कुछ दूसरे अधिक सूक्ष्म कपट हैं और उन्हें पहचानना अधिक कठिन है। जैसे, तुम्हारे अन्दर जब तक सहानुभूतियाँ और विद्वेष-भावनाएँ हैं, बिलकुल स्वाभाविक रूप में तथा मानों स्वतःस्फूर्त रूप में, अपनी अनुकूल चीज़ के विषय में तो तुम्हारा अनुकूल मत होगा, और अपनी नापसन्द चीज़ के विषय में प्रतिकूल। और ऐसी स्थिति में भी सच्चाई का अभाव बहुत स्पष्ट होगा। परन्तु हो सकता है कि तुम अपने को धोख़ा दो और यह न देख सको कि तुम झूठे हो। तब उस स्थिति में मानों तुम्हें मानसिक कपट का सहयोग प्राप्त होता है। कारण, यह सच है कि सत्ता की या सत्ता के अंगों की अवस्था के अनुसार थोड़े-से भिन्न-भिन्न प्रकार के कपट हैं। केवल इन कपटों का मूल स्रोत सर्वदा एक ही क्रिया होती है जो कामना तथा व्यक्तिगत प्रयोजनों की प्राप्ति की चेष्टा से—अहंभाव से, अहंभाव से उत्पन्न सभी सीमाओं एवं कामना से उत्पन्न सभी विकृतियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है।

वास्तव में, जब तक अहं है, कोई यह नहीं कह सकता कि कोई प्राणी पूर्णतः सच्चा है, यद्यपि वह वैसा बनने का प्रयास करता है। हमें अहं से परे जाना होगा, अपने-आपको सम्पूर्ण रूप में भागवत 'संकल्प' के हाथों में सौंप देना होगा, बिना कुछ बचाये और बिना हिसाब लगाये समर्पण कर देना होगा... तब हम पूर्णतः सच्चे-निष्कपट हो सकते हैं, पर उससे पहले नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम जितने सच्चे हैं उससे अधिक सच्चे बनने के लिए कोई प्रयास न करें और मन-ही-मन यह कहें: "अच्छा, सच्चा बनने के लिए मैं अपने अहं के विलीन होने की प्रतीक्षा करूँगा", क्योंकि हम शब्दों को उलट कर यह कह सकते हैं कि यदि तुम सच्चाई के साथ प्रयत्न न करो तो तुम्हारा अहं कभी विलीन नहीं होगा। अतः, सच्चाई सभी सच्ची सिद्धियों का आधार है, वह साधन है, पथ है—और यह लक्ष्य भी है। इसके बिना तुम निश्चय ही अनगिनत भूलें करोगे और तुम्हें निरन्तर उस हानि का प्रतिकार करते रहना होगा जो तुमने अपने प्रति और दूसरों के प्रति की है।

इसके अलावा, निष्कपट होने में एक अद्‌भुत आनन्द है। निष्कपटता का प्रत्येक कार्य अपने-आपमें अपना प्रतिदान ले आता है: पवित्रता की, ऊपर की ओर उड़ान भरने की, मुक्ति की वह भावना ले आता है जिसे मनुष्य

तब पाता है जब वह मिथ्यात्व के एक छोटे-से कण को भी त्याग देता है।

सत्यनिष्ठा ही रक्षोपाय है, संरक्षण है, यही पथ-प्रदर्शक है, और अन्त में रूपान्तरकारिणी शक्ति है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ.४११-४१३

एकमात्र चीज़ जो सचमुच प्रभावकारी है वह है चेतना का परिवर्तन; अतिमानसिक शक्तियों के स्पन्दन के साथ घनिष्ठ, सतत, पूर्ण एवं अपरिहार्य रूप में एकत्व पा लेने के द्वारा मिलने वाली आन्तरिक मुक्ति, वही हो प्रतिक्षण की व्यस्तता, सत्ता के सभी तत्त्वों का संकल्प, सम्पूर्ण सत्ता की, शरीर के सभी कोषों तक की भी, अभीप्सा—यह है अतिमानसिक शक्तियों व दिव्य शक्तियों के साथ मिलन। और तब इस ओर ध्यान देने की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती कि परिणाम क्या होंगे। वैश्व शक्तियों की क्रीड़ा और अभिव्यक्ति में जो होना है वह बिलकुल स्वाभाविक और सहज रूप में स्वतः ही होगा, इस ओर अपना मन लगाने की ज़रूरत नहीं रहती। एकमात्र चीज़ जिसका महत्त्व होता है वह है 'शक्ति', 'ज्योति', 'सत्य', 'बल' और अतिमानसिक चेतना के अवर्णनीय आनन्द के साथ सतत, सर्वांगीण और पूर्ण सम्पर्क—सतत, हां, सतत सम्पर्क।

यह है सच्चाई। बाक़ी सब तो नकल है, एक प्रहसन-सा है जिसे मनुष्य अपने-आपसे खेलता है।

पूर्ण पवित्रता का अर्थ है **होना**, निरन्तर अधिकाधिक पूर्ण सम्भूति के अन्दर 'होना'। व्यक्ति को कभी दावा नहीं करना चाहिये कि वह ऐसा है: उसे सहज-स्वाभाविक रूप में वैसा **होना** चाहिये। इसी का नाम सच्चाई है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ११३-१४

श्रीअरविन्द के वचन

सूक्ष्म पद्धतियों से मेरा तात्पर्य है मनोवैज्ञानिक, अ-यान्त्रिक प्रक्रियाएँ, यानी, हृदय में एकाग्रता, समर्पण, आत्मशुद्धि, आन्तरिक साधनों द्वारा चेतना का परिवर्तन। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य परिवर्तन नहीं होता : बाह्य परिवर्तन आवश्यक है किन्तु आन्तरिक परिवर्तन के एक अंश के रूप में। यदि अन्दर अशुद्धि या कुटिलता है तो बाह्य परिवर्तन प्रभावकारी नहीं होगा। किन्तु यदि अन्दर की क्रिया में सच्चाई है तब बाह्य परिवर्तन की सहायता से प्रक्रिया में द्रुत गति आ जायेगी... हृदय के शुद्धीकरण के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ है पूर्ण सच्चाई। अपने साथ कोई छल-कपट नहीं, भगवान् से या अपने-आपसे या गुरु से कोई छिपाव नहीं, अपनी गतिविधियों पर एक सीधी दृष्टि, उन्हें सीधा करने के लिए एक सीधा संकल्प।
SABCL खण्ड २३, पृ. ९०३

पूर्ण रूप से सच्चा या निष्कपट होने का अर्थ है केवल भागवत सत्य की कामना करना, भगवती माता को अधिक-से-अधिक आत्म-समर्पण करना, इस एक अभीप्सा को छोड़ कर समस्त व्यक्तिगत माँग तथा कामना का त्याग करना, जीवन की प्रत्येक क्रिया को भगवान् को अर्पित करना तथा बीच में अहंकार को लाये बिना इसे भगवान् द्वारा दिया गया कार्य समझ कर करना।
SABCL खण्ड २५, पृ. २०५

वस्तुओं से मुक्त होने की एक शर्त है, सत्ता के सभी भागों में एक पूर्ण केन्द्रीय सच्चाई, और इसका अर्थ है सत्य पर पूर्ण आग्रह और सत्य के अलावा और किसी चीज़ पर नहीं।
SABCL खण्ड २३, पृ. ५६२

सच्चाई निश्चित रूप से 'भागवत कृपा' लाती है। —श्रीमाँ

श्रद्धा या विश्वास

श्रीअरविन्द के वचन

श्रद्धा आत्मा की वह साक्षी है जिसने उस वस्तु को देखा है जो अभी तक अभिव्यक्त, उपलब्ध या सिद्ध नहीं की गयी है, किन्तु हमारे अन्दर का ज्ञाता सब संकेतों के अभाव में भी अनुभव करता है कि वह सत्य है या सर्वोच्च रूप से अनुसरण या उपलब्ध करने-योग्य है। हमारे अन्दर की यह चीज़ मन के किसी निश्चित विश्वास के बिना भी, यहां तक कि प्राण के संघर्ष, विद्रोह तथा इन्कार के बावजूद बनी रह सकती है।
SABCL खण्ड २३, पृ. ५७३

यह श्रद्धा—अंग्रेज़ी शब्द फ़ेथ (Faith) इसके भाव को व्यक्त करने में असमर्थ है—वास्तव में यह परम आत्मा का प्रभाव है और इसका प्रकाश हमारी अतिमानसिक सत्ता का एक सन्देश है जो निम्न प्रकृति को इसके तुच्छ वर्तमान से एक महान् आत्म-सम्भवन तथा आत्म-अतिक्रमण की ओर ऊपर उठने के लिए पुकार रहा है। और जो प्रभाव को ग्रहण करता है और पुकार का उत्तर देता है वह बुद्धि, हृदय या प्राणिक मन नहीं बल्कि आन्तरिक आत्मा है जो ज्यादा अच्छी तरह जानती है कि उसकी नियति और मिशन का सत्य क्या है।
SABCL खण्ड २१, पृ. ७४६

रामकृष्ण ने एक प्रश्न के उत्तर में कि 'अन्ध श्रद्धा क्या गलत नहीं है', यहाँ तक कहा कि केवल अन्ध श्रद्धा ही वाञ्छनीय है क्योंकि श्रद्धा या तो अन्धी होती है या वह श्रद्धा नहीं कुछ और ही होता है—तर्कसंगत निष्कर्ष, सिद्ध किया हुआ विश्वास या सुनिश्चित ज्ञान।
SABCL खण्ड २३, पृ. ५७२-७३

योग में आधारभूत श्रद्धा, जो आत्मा में सहज रूप से होती है, यह है कि भगवान् की सत्ता है और भगवान् ही एकमात्र चीज़ हैं जिसकी खोज की

जानी चाहिये—जीवन में अन्य कुछ भी उसकी तुलना में अधिक वाञ्छनीय नहीं है। जब तक मनुष्य में वैसी श्रद्धा है वह आध्यात्मिक जीवन के लिए चुन लिया गया है और मैं तो कहूँगा कि यदि उसकी प्रकृति बाधाओं से अटी पड़ी है तथा नकारों व कठिनाइयों से भरपूर है और यदि उसे बहुत वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा है, फिर भी आध्यात्मिक जीवन में उसकी सफलता निर्दिष्ट है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५७३

हमें एक ऐसी श्रद्धा रखनी होगी कि हमारे अज्ञान, हमारी भूलों तथा कमज़ोरियों के बावजूद, विरोधी शक्तियों के आक्रमणों तथा विफलता की प्रत्यक्ष प्रतीति के बावजूद, प्रत्येक परिस्थिति में भागवत संकल्प ही अन्तिम 'सिद्धि' की ओर हमारा मार्गदर्शन कर रहा है। यह श्रद्धा हमें समता प्रदान करेगी। यह एक ऐसी श्रद्धा है जो स्वीकार करती है कि जो भी होता है उसे मार्ग पर चलने के लिए पार करना ही होता है। एक बार समत्व स्थापित हो जाये तो इसके समर्थन से एक दूसरे प्रकार की श्रद्धा भी स्थापित हो सकती है जिसे अतिमानसिक चेतना के कुछ तत्त्व के साथ गतिशील बनाया जा सकता है और जो वर्तमान परिस्थितियों को नियन्त्रित कर, जो होगा उसका निर्धारण कर सकती है तथा परात्पर प्रभु के संकल्प की सिद्धि को लाने में सहायता कर सकती है।

वैश्व प्रभु के प्रति श्रद्धा लीला की आवश्यकताओं के कारण अपनी क्रिया की शक्ति में सीमित होती है।

इन सीमितताओं से पूरी तरह मुक्त होने के लिए हमें परात्पर प्रभु तक पहुँचना होगा।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५७९

श्रीमाँ के वचन

शुद्ध श्रद्धा एक सर्व-शक्तिमान् और दुर्निवार चीज़ है। तुम ऐसी श्रद्धा को बहुधा न पाओगे जो सर्व-शक्तिमान् और दुर्निवार हो, और यह चीज़ दिखाती है कि श्रद्धा पूरी तरह से शुद्ध नहीं है। प्रश्न को इस तरह रखना

चाहिये : हममें से हर एक में श्रद्धा होती है, उदाहरण के लिए, किसी चीज़ में श्रद्धा, मान लो अपने अन्दर स्थित भागवत उपस्थिति में श्रद्धा। अगर हमारी श्रद्धा शुद्ध हो तो हम अपने अन्दर स्थित इस भागवत उपस्थिति से तुरन्त अभिज्ञ हो जायेंगे। यह समझने के लिए यह बहुत सरल उदाहरण है। तुम्हारे अन्दर श्रद्धा है, वह है तो, लेकिन तुम्हें अनुभव नहीं होता। क्यों? क्योंकि श्रद्धा शुद्ध नहीं है। अगर श्रद्धा पूरी तरह से शुद्ध होती तो चीज़ तुरन्त हो जाती। यह एकदम सच है। तो अगर तुम इस बात से अभिज्ञ हो जाते हो कि चीज़ एकदम चरितार्थ नहीं हो रही है तो तुम इस तरह देखना शुरू कर सकते हो : लेकिन यह चरितार्थ क्यों नहीं हुई? मेरी श्रद्धा में क्या है आख़िर? और अगर तुम उसी सच्ची निष्कपटता के साथ देखते चलो तो तुम देखोगे कि उसमें बहुत-सी छोटी चीज़ें हैं, कितनी ही छोटी-छोटी चीज़ें—बड़ी नहीं, इतनी बड़ी—जो घृणास्पद हों। छोटी-छोटी चीज़ें। कितनी ही बार ज़रा-सा गर्व आ जाता है और फिर कामना, बहुत उग्र नहीं—ऐसी जो अपने-आपको बहुत नहीं दिखाती। वह तुम्हें जो महानता देती है, जो शक्ति देती है और जो सन्तोष देती है।...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ३९२-९३

... यदि तुम्हारी श्रद्धा भगवान् के प्रति पूर्ण विश्वास से निर्मित नहीं है तो तुम्हें यह धारणा हो सकती है कि तुममें श्रद्धा है और फिर भी तुम भागवती 'शक्ति' या 'भगवत्कृपा' पर अपना पूरा विश्वास खो देने, अथवा भगवान् का जो 'विश्वास' तुम पर है उसे खो देने के पथ पर हो सकते हो। रास्ते की ये तीन बाधाएँ हैं : जिन लोगों में भगवान् पर श्रद्धा होती है—जिसे वे अटूट श्रद्धा कहते हैं—और जो यह कहते हैं : "स्वयं भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं; जो कुछ मुझमें, दूसरों में, सर्वत्र हो रहा है वह सब भगवान् का ही कार्य है और भगवान् के सिवा और किसी चीज़ का नहीं", वे यदि इस प्रकार के तर्क के साथ इसका अनुसरण करते हैं तो कुछ समय बाद वे भगवान् पर अत्यन्त दहलाने वाले कुकर्मों का दोषारोपण करते हैं, उन बुराइयों के लिए 'उन पर' दोष लगाते हैं जो जगत् में होती हैं और उन्हें एक वास्तविक, क्रूर और भयावह दानव बना देते हैं—यदि उनमें विश्वास नहीं होता।

अथवा यदि उनमें श्रद्धा होती है, तो वे अपने-आपसे कहते हैं : "सचमुच मुझे भगवान् पर श्रद्धा तो है, पर यह जगत्, मैं भली-भाँति देख सकता हूँ कि यह कैसा है! सबसे पहले तो मैं इतना अधिक दुःख भोग रहा हूँ, ठीक है न? मैं बहुत दुःखी हूँ, अपने सभी पड़ोसियों से बहुत अधिक दुःखी हूँ" —कारण, मनुष्य सर्वदा अपने सभी पड़ोसियों से कहीं अधिक दुःखी होता है—"मैं बहुत दुःखी हूँ, और सचमुच, जीवन मेरे प्रति कठोर है। परन्तु फिर भगवान् तो देवता हैं; वे सर्व-कृपालु, सर्व-उदार, सर्व-सामञ्जस्यमय हैं, तो यह कैसी बात है कि मैं इतना दीन-दुःखी हूँ? वे अवश्य ही शक्तिहीन होंगे; अन्यथा इतना कृपालु होने पर वे मुझे इतना अधिक कैसे दुःख-कष्ट भोगने देते?"

यह है दूसरी बाधा।

और तीसरी है : ये ऐसे लोग होते हैं जिनमें, हम कह सकते हैं, एक प्रकार की विकुञ्चित और अतिरञ्जित विनयशीलता या विनम्रता होती है और जो अपने-आपसे कहते हैं : "निश्चय ही भगवान् ने मुझे बाहर फेंक दिया है, मैं किसी काम के लायक़ नहीं हूँ, वे मेरे साथ कुछ नहीं कर सकते, मेरे लिए बस एकमात्र कार्य है, इस खेल को ही बन्द कर देना, क्योंकि वे मुझे अपने योग्य नहीं समझते!"

अतः, जब तक मनुष्य अपनी श्रद्धा के साथ भगवत्कृपा के प्रति समग्र और पूर्ण विश्वास को नहीं जोड़ देता, तब तक कठिनाइयाँ अवश्य रहेंगी। इस कारण दोनों ही चीज़ें आवश्यक हैं।...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४१-४२

सबसे आवश्यक शर्त है बच्चे-जैसा विश्वास रखना, बच्चे का-सा निश्छल विश्वास, कि चीज़ होकर रहेगी। बच्चा अपने-आपसे इसके बारे में पूछता तक नहीं; जब उसे किसी चीज़ की ज़रूरत होती है तो उसे विश्वास होता है कि वह अवश्य आयेगी। तो यह है, इस प्रकार का विश्वास—निश्चय ही यह सबसे ज़रूरी शर्त है।

अभीप्सा करना अनिवार्य है। लेकिन कुछ लोग बड़े आन्तरिक संघर्ष के साथ अभीप्सा करते हैं, श्रद्धा और श्रद्धा के अभाव में, विश्वास और अविश्वास में, विजय के बारे में निश्चित आशावाद और अपने-आपसे "संकट

कब आयेगा?" पूछते हुए निराशावाद के बीच संघर्ष के साथ अभीप्सा करते हैं। अगर सत्ता में यह चल रहा हो तो तुम अभीप्सा भले करते रहो, पर तुम्हें कुछ भी नहीं मिलता और तुम कहते हो: "मैंने अभीप्सा की पर कुछ हाथ न आया।" इसका कारण यह है कि तुम सारे समय विश्वास के अभाव से अपनी अभीप्सा को ढाते रहे हो। लेकिन अगर सचमुच तुम्हारे अन्दर विश्वास है...। अगर बच्चों को अपने ऊपर छोड़ दिया जाये, बड़े उन्हें बिगाड़ें नहीं तो उनके अन्दर कितना बड़ा विश्वास होता है कि सब कुछ ठीक होगा! उदाहरण के लिए, अगर उनके साथ कोई दुर्घटना हो जाये, तो वे यह कभी नहीं सोचते कि यह कोई गम्भीर चीज़ होने वाली है: उन्हें सहज रूप से यह विश्वास होता है कि जल्दी ही यह क़िस्सा ख़त्म हो जायेगा और यह बड़े सबल रूप से उसे ख़त्म करने में सहायक होता है।

हाँ तो, जब तुम दिव्य शक्ति के लिए अभीप्सा करो, जब तुम भगवान् से सहायता माँगो और इस अटल विश्वास के साथ माँगो कि वह आयेगी, कि यह असम्भव है कि वह न आये, तो वह निश्चय ही आयेगी। वह इस प्रकार... हाँ, यह विश्वास सचमुच आन्तरिक उद्घाटन है। कुछ लोग हमेशा इस स्थिति में रहते हैं। जब कोई चीज ग्रहण करनी होती है, तो वे हमेशा ग्रहण करने के लिए मौजूद रहते हैं।... अगर सहज, निष्कपट, बिना ननुनच करने वाला विश्वास है, तो वह सबसे अच्छा कार्य करता है, और अद्भुत परिणाम आते हैं। तुम अपने मन के विरोधों और सन्देहों के कारण सब कुछ बिगाड़ देते हो।...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३९४-९५

जब सब कुछ खोया हुआ प्रतीत होता है तभी सब कुछ बचाया जा सकता है। जब तुम अपनी निजी शक्तियों पर विश्वास खो बैठते हो, तब तुम्हें भागवत कृपा पर विश्वास रखना चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ९१

भगवान् की कृपा पर अटल श्रद्धा रखो। —श्रीमाँ

भक्ति या कृतज्ञता

श्रीअरविन्द के वचन

भक्ति की प्रकृति है उसके प्रति आराधना, पूजा, आत्म-समर्पण जो हमसे महत्तर है...

भक्ति कोई अनुभूति नहीं है, यह हृदय और आत्मा की एक अवस्था है। यह स्थिति तब आती है जब चैत्य पुरुष जाग्रत् तथा सुव्यक्त होता है।

... भक्ति अपनी पूर्णता में पूर्ण आत्मदान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ७७६, ७९९

एक विशुद्ध तथा पूर्ण भक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है?

पहले स्थिर हो जाओ—तब स्थिरता से अभीप्सा करो और स्वयं को स्थिरता और सच्चाई के साथ श्रीमाँ की ओर उद्घाटित करो।

मानसिक चिन्ताओं से अपने को परेशान न होने दो। श्रीमाँ की शक्ति की क्रिया की प्रतीक्षा करो जिससे हृदय-कमल उद्घाटित हो जायेगा। ऊपर से आते प्रकाश में तुम्हारे अन्दर भक्ति प्रस्फुटित हो जायेगी।

SABCL खण्ड २५, पृ. १८४

भगवान् की ओर प्रेम के माध्यम से आत्मा का घुमाव ऐसे प्रेम द्वारा होना चाहिये जो तात्त्विक रूप से दिव्य हो, परन्तु, क्योंकि अभिव्यक्ति का यन्त्र सबसे पहले मानव प्रकृति होती है, इसलिए यह मानव प्रेम और भक्ति का रूप ले लेती है। केवल तभी जब चेतना में गहराई, ऊँचाई तथा परिवर्तन आता है, एक महत्तर शाश्वत प्रेम इसमें वर्धित हो सकता और प्रकट रूप से मानव प्रेम को दिव्य प्रेम में रूपान्तरित कर सकता है। किन्तु मानव प्रेम में भी अनेक प्रकार की प्रेरक-शक्तियाँ हैं। एक चैत्य मानव प्रेम होता

है जो अन्दर की गहराई से उठता है और आन्तरिक सत्ता के साथ एक ऐसी चीज़ के मिलन का परिणाम है जो इसे भागवत आनन्द तथा एकत्व की ओर बुलाता है। यदि यह चैत्य प्रेम एक बार अपने प्रति सचेतन हो जाये तो यह स्थायी और स्वयम्भू हो जाता है। यह बाह्य तुष्टियों पर निर्भर नहीं रहता, बाहरी कारणों से इसमें ह्रास नहीं आता, सदा अहंभाव से मुक्त रहता है। यह माँग या सौदेबाज़ी नहीं करता बल्कि सरल और सहज भाव से आत्मदान कर देता है। यह ग़लतफ़हमियों, निराशाओं, अनबन और क्रोध से न विचलित होता है न टूटता है, बल्कि हमेशा सीधा आन्तरिक एकत्व की ओर दबाव डालता है। यही चैत्य प्रेम भगवान् के निकटतम होता है, इसीलिए यह प्रेम और भक्ति का समुचित और सर्वोत्तम मार्ग है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सत्ता के अन्य भागों को—जिसमें प्राण तथा भौतिक भी सम्मिलित हैं—प्रेम की अभिव्यक्ति के साधन नहीं बनाया जा सकता अथवा वे प्रेम, यहाँ तक कि भागवत प्रेम की पूर्ण लीला व सम्पूर्ण अर्थ में भाग नहीं ले सकते। इसके विपरीत, वे एक साधन हैं तथा भागवत प्रेम की पूर्ण अभिव्यक्ति में एक बड़ा भाग बन सकते हैं—बशर्ते उनमें समुचित गति हो, अनुचित नहीं।... भौतिक साधन भागवत प्रेम तथा पूजा में प्रयुक्त किये जा सकते हैं तथा किये जाते हैं। उन्हें केवल मानव दुर्बलता के कारण छूट के रूप में अस्वीकार किया गया है और न इस बात में सच्चाई है कि चैत्य-मार्ग में ऐसी चीज़ों के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत, वे भगवान् के पास जाने तथा उनके प्रकाश को पाने और चैत्य सम्पर्क को चरितार्थ करने के एक साधन हैं और जब तक यह समुचित भावना के साथ किया जाता है तथा वे सच्चे प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं, तब तक उनका अपना स्थान है।

राधा भगवान् के लिए चरम प्रेम का, उच्चतम आध्यात्मिक से लेकर भौतिक तक, सत्ता के सभी भागों में सम्पूर्ण तथा समग्र प्रेम का मानवीकरण है जो समस्त सत्ता का चरम आत्मदान तथा सम्पूर्ण समर्पण लाता है तथा शरीर में और सर्वाधिक जड़ प्रकृति में परमानन्द को नीचे निमन्त्रित करता है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ७५५-५६, ७९६

श्रीमाँ के वचन

... एक दूसरी क्रिया है जो भक्ति के साथ निरन्तर बनी रहनी चाहिये...। इस प्रकार की कृतज्ञता का भाव कि भगवान् का अस्तित्व है; चमत्कारपूर्ण कृतज्ञता की यह भावना जो इस तथ्य के कारण ही तुम्हें वास्तव में महान् हर्ष से भर देती है कि भगवान् हैं, विश्व में कोई वस्तु है जो भगवान् है, ठीक वह भयंकरता ही नहीं है जिसे हम देखते हैं, भगवान् हैं, भगवान् विद्यमान हैं। और जब-जब अत्यन्त मामूली चीज़ भी तुम्हें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, दिव्य सत्ता के इस उच्च 'सत्य' के सम्पर्क में ला देती है, तुम्हारा हृदय इतने तीव्र, इतने अलौकिक हर्ष से, एक ऐसी कृतज्ञता से भर जाता है जिसमें अन्य समस्त चीज़ों की अपेक्षा सबसे अधिक आनन्दपूर्ण रस होता है।

ऐसी कोई चीज़ नहीं जो तुम्हें कृतज्ञता से प्राप्त हर्ष के समान हर्ष प्रदान करे। हम एक पक्षी को गाते हुए सुनते हैं, एक सुन्दर-सा पुष्प देखते हैं, एक नन्हें-से बच्चे को निहारते हैं, उदारता के एक कार्य की ओर दृष्टिपात करते हैं, एक आकर्षक वाक्य पढ़ते हैं, अस्तोन्मुख रवि को देखते हैं, इसका कोई महत्त्व नहीं कि वह क्या चीज़ होती है, एकाएक यह चीज़ तुम्हें अभिभूत कर देती है, इस प्रकार का भावातिरेक—निस्सन्देह ही इतना गभीर, इतना तीव्र—कि संसार भगवान् को अभिव्यक्त कर रहा है, कि जगत् के पीछे कोई वस्तु है जो भगवान् है।

अतएव मैं समझती हूँ कि कृतज्ञता के बिना भक्ति एकदम अपूर्ण होती है, भक्ति के साथ-साथ कृतज्ञता अवश्य होनी चाहिये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४३

...बहुत कम लोग हैं, बहुत ही कम, उनकी संख्या न के बराबर है, जो सच्ची धार्मिक भावना के साथ गिरजाघर या मन्दिर जाते हैं, यानी, किसी चीज़ के लिए प्रार्थना करने या भगवान् से कुछ माँगने के लिए नहीं, बल्कि अपने-आपको अर्पित करने के लिए, कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, अभीप्सा और आत्म-समर्पण करने के लिए जाते हैं। मुश्किल से लाखों में एक ऐसा होता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १९३

साहस या अभीप्सा

श्रीमाँ के वचन

मुझे याद है कि एक बार हमने एक परिपूर्णता के रूप में साहस की चर्चा की थी;... परन्तु वह एक ऐसा साहस है जिसमें एक सर्वोच्च साहसिक कार्य का रस होता है। और सर्वोच्च साहसिकता का यह रस है अभीप्सा—वह अभीप्सा जो तुम्हें पूर्णतः अपने अधिकार में कर लेती है और बिना कोई हिसाब लगाये, बिना कुछ बचाये और पीछे हट आने की किसी सम्भावना के बिना, तुम्हें भागवत खोज के महान् साहसिक कार्य में, दिव्य मिलन के महान् साहसिक कर्म में, और 'भागवत उपलब्धि' के और भी महत्तर साहसिक कार्य में फेंक देती है; मनुष्य बिना पीछे ताके और एक क्षण भी यह पूछे बिना कि "क्या होने वाला है" अपने-आपको इस साहसिक कार्य में, झोंक देता है। क्योंकि कोई यदि पूछता है कि क्या होने वाला है तो वह कभी प्रारम्भ ही नहीं करता, वह सदा धरती से चिपका रहता है, वहाँ, गड़ा रहता है, किसी वस्तु को खो देने, अपना सन्तुलन खो देने के भय से त्रस्त रहता है।

यही कारण है कि मैं साहस की बात कहती हूँ—परन्तु वास्तव में वह अभीप्सा की बात है। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। सच्ची अभीप्सा ऐसी चीज़ है जो साहस से भरी रहती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४३-४४

... भय एक अपवित्रता है, सबसे बड़ी अपवित्रताओं में से एक, उनमें से एक जो उन भगवद्विरोधी शक्तियों के अत्यन्त प्रत्यक्ष परिणाम होती हैं जो पृथ्वी पर भागवत कार्य को नष्ट कर देना चाहती हैं; और जो लोग सचमुच योग करना चाहते हैं उनका सबसे पहला कर्तव्य है, अपनी सारी शक्ति, सारी सच्चाई तथा जितनी सहिष्णुता वे धारण कर सकें उस सबके साथ अपनी चेतना में से भय की छाया तक को निकाल फेंकना। मार्ग पर चलने के लिए हमें निर्भय होना होगा, और कभी उस क्षुद्र, तुच्छ, दुर्बल, निकृष्ट, अपनी ही ओर सिकुड़ जाने के भाव को, जो कि भय है, प्रश्रय

नहीं देना चाहिये।

एक अदम्य साहस, एक पूर्ण निष्ठा और एक आत्मदान जो इतना सच्चा हो कि मनुष्य न तो हिसाब लगाये, न मोल-तोल करे, पाने की भावना से न दे, संरक्षण पाने की भावना से निर्भरशील न हो—ऐसी श्रद्धा न रखे जो प्रमाण माँगती हो—बस, यही चीज पथ पर चलने के लिए अनिवार्य है, और बस यही चीज़ है जो वास्तव में तुम्हें सभी ख़तरों में सुरक्षा प्रदान कर सकती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २७३-७४

तुम जो भी करो, अपने लक्ष्य को सदा स्मरण रखो। इस महान् उपलब्धि की खोज में कोई भी चीज़ बड़ी या छोटी नहीं है; सभी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, ये इसकी सफलता में सहायता भी पहुँचा सकती हैं और बाधा भी डाल सकती हैं, जैसे भोजन से पहले तुम इस अभीप्सा पर कुछ क्षण अपना ध्यान एकाग्र करो कि जो खाना तुम खाने वाले हो वह तुम्हारे शरीर के लिए उस प्रयोजनीय तत्त्व को पैदा करे जो इस महान् उपलब्धि के लिए तुम्हारे प्रयत्न का ठोस आधार बनेगा तथा उसे इस प्रयत्न में सहनशीलता और अध्यवसाय की शक्ति प्रदान करेगा।

सोने से पहले, तुम कुछ क्षणों के लिए एकाग्र होकर अभीप्सा करो कि यह निद्रा तुम्हारी थकी हुई नसों को पुनः शक्ति प्रदान करे, तुम्हारे मस्तिष्क में स्थिरता और शान्ति लाये, ताकि सोकर उठने के बाद तुम नये उत्साह के साथ इस महान् उपलब्धि की ओर अपनी यात्रा को फिर से आरम्भ कर सको।

कुछ भी करने से पहले, इस इच्छा-शक्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करो कि तुम्हारा कार्य इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में तुम्हें सहायता पहुँचाये, कम-से-कम बाधक तो न बने।

जब तुम बोलो, तो मुख से शब्द निकालने से पहले कम-से-कम इतनी देर तो अपने-आपको एकाग्र कर लो ताकि तुम्हारा शब्दों पर नियन्त्रण रहे और वही शब्द मुख से निकलें जो अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, केवल वही जो इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में किसी प्रकार भी बाधक नहीं हैं।

संक्षेप में, अपने जीवन के प्रयोजन और लक्ष्य को कभी मत भूलो। इस महान् उपलब्धि का तुम्हारा संकल्प सदा तुम्हारे ऊपर तथा जो कुछ तुम करते हो और जो कुछ तुम हो, उस पर सजग रूप में विद्यमान रहे मानों यह प्रकाश का एक विशाल पक्षी है जो तुम्हारे अस्तित्व की सभी गतिविधियों को प्रभावित करता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३२-३३

अभीप्सा बाण की तरह है, यूँ *(संकेत)*। तो तुम अभीप्सा करो, बहुत गम्भीरतापूर्वक समझना चाहो, जानना चाहो, सत्य में प्रवेश करना चाहो। हाँ? और फिर उस अभीप्सा के साथ तुम यह करो *(संकेत)*। तुम्हारी अभीप्सा उठती है, उठती है, उठती है, सीधी ऊपर उठती है, बहुत प्रबल, और फिर वह ज़ोर से टकराती है और एक प्रकार के... कैसे कहा जाये?... ढक्कन से जो लगा हुआ है, लोहे जैसा सख़्त और बहुत अधिक मोटा और वह आर-पार नहीं हो पाती। और तब तुम कहते हो: "लो, अभीप्सा करने का फ़ायदा क्या? उससे कुछ भी तो नहीं आता। मेरा किसी सख़्त चीज़ से सामना होता है और मैं उसके पार नहीं जा सकता!" लेकिन तुम पानी की उस बूँद के बारे में जानते हो जो चट्टान पर गिरती है, अन्त में वह दरार बना कर ही रहती है: वह चट्टान को ऊपर से नीचे तक काट देती है। तुम्हारी अभीप्सा पानी की एक बूँद है जो, गिरने की जगह, उठती है। तो, चढ़ने के बल पर, वह चोट करती है, चोट करती है, चोट करती है, और एक दिन छेद बना लेती है, चढ़ने के बल पर; और जब वह छेद बना लेती है तो वह अचानक इस ढक्कन में से उछल पड़ती है, और ज्योति की अनन्तता में प्रवेश करती है, और तुम कहते हो: "ओ हो, अब मैं समझा।"

बात ऐसी है।

तो तुम्हें बहुत आग्रही होना चाहिये, बहुत हठीला होना चाहिये और तुम्हारे अन्दर ऐसी अभीप्सा होनी चाहिये जो सीधी ऊपर उठे, यानी, जो सब तरह की चीज़ें ढूँढ़ती, इधर-उधर घूमती न फिरे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २३०

सहिष्णुता या अध्यवसाय

श्रीमाँ के वचन

... यदि तुम हतोत्साह हुए बिना और प्रयास छोड़े बिना, क्योंकि वह अत्यन्त कठिन है, कठिनाइयों का सामना करने में समर्थ नहीं हो; और यदि तुम असमर्थ... हाँ, आघातों को ग्रहण करने और फिर भी प्रयास जारी रखने में, आघातों को जैसा कहा जाता है "पी जाने" में—अपने दोषों के फलस्वरूप जब आघात पाते हो, उन्हें पी जाने और निरुत्साह हुए बिना आगे बढ़ना जारी रखने में—असमर्थ होते हो, तो तुम बहुत दूर तक आगे नहीं जाते; प्रथम मोड़ पर ही, जहाँ तुच्छ अभ्यस्त जीवन आँख से ओझल हो जाता है, तुम निराशा में जा गिरते हो और प्रयास छोड़ देते हो।

इसका रूप... कैसे इसे कहा जाये? इसका अत्यन्त स्थूल रूप है अध्यवसाय। जब तक तुम एक ही चीज़ को हज़ारों बार फिर से आरम्भ करने का संकल्प न करो...। जानते हो, लोग निराश होकर मेरे पास आते और कहते हैं: "मैंने तो समझा था कि यह हो चुका, पर मुझे फिर से आरम्भ करना होगा!" और यदि उनसे कहा जाता है: "परन्तु यह तो कुछ नहीं, तुम्हें शायद फिर से सौ बार, दो सौ बार, हज़ार बार प्रारम्भ करना होगा; तुम एक पग आगे बढ़ते हो और समझते हो कि सुरक्षित हो गये, परन्तु सर्वदा कोई चीज़ बनी रहेगी जो उसी कठिनाई को थोड़े दिन बाद वापस ले आयेगी। तुम समझते हो कि तुमने समस्या हल कर ली, तुम्हें उसे फिर एक बार हल करना होगा; वह तुम्हारे सामने ऐसे उपस्थित होगी जो देखने में तो भिन्न होगी, पर होगी वही समस्या", और यदि तुमने निश्चय नहीं किया है कि: "यदि वह लाखों बार वापस आये तो मैं उसे लाखों बार हल करूँगा, पर इसे समाप्त करके ही छोड़ूँगा", तो हाँ, तुम योग नहीं कर सकोगे। यह एकदम अनिवार्य है।

लोगों को बहुत सुन्दर अनुभव होता है और वे कहते हैं: "आह! अब मुझे यह मिल गया!"... और तब वह बैठ जाता है, कम हो जाता है, आवृत हो जाता है और अकस्मात् कोई अप्रत्याशित, एकदम सामान्य और देखने में बिलकुल अरुचिकर वस्तु तुम्हारे सामने आ उपस्थित होती है और

तुम्हारा रास्ता बन्द कर देती है। और तब तुम कहते हो: "आह! प्रगति करने से भला क्या लाभ यदि यह चीज़ पूरी-की-पूरी फिर से प्रारम्भ हो रही है? मैं इसे क्यों करूँ? मैंने प्रयास किया, सफलता पायी, एक विशेष बिन्दु पर पहुँच गया, और अब ऐसा लग रहा है मानों मैंने कुछ नहीं किया था! यह सब सचमुच बेकार बात है।" क्योंकि तुममें सहिष्णुता नहीं है।

यदि किसी में सहिष्णुता है तो वह कहता है: "यह ठीक है। बहुत अच्छा, जितनी बार आवश्यक होगा उतनी बार मैं इसे फिर से आरम्भ करूँगा; हज़ार बार, दस हज़ार बार, लाख बार यदि ज़रूरी हो तो मैं इसे फिर से आरम्भ करूँगा—परन्तु मैं अन्त तक जाऊँगा और किसी चीज़ में वह शक्ति नहीं होगी जो मुझे रास्ते में रोक दे।"

यह बहुत ज़रूरी चीज़ है। बहुत ज़रूरी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४४-४५

... सबसे बढ़ कर आवश्यक गुण है लगन, सहिष्णुता, और... उसे क्या नाम दें? एक प्रकार का आन्तरिक प्रसन्न-भाव जो निरुत्साहित न होने में, उदास न होने में और मुस्कुराहट के साथ सभी कठिनाइयों का सामना करने में तुम्हारा सहायक होता है। अंग्रेज़ी में एक शब्द है जो इस भाव को अच्छी तरह व्यक्त करता है और वह है 'चियरफ़ुलनेस' (cheerfulness) —प्रसन्नचित्तता। यदि तुम इसे अपने अन्दर बनाये रखो तो तुम उन सब बुरे प्रभावों के साथ, जो तुम्हें प्रगति करने से रोकने का प्रयास करते हैं, प्रकाश के अन्दर, बहुत अच्छे तरीक़े से लड़ सकते, उनका अधिक अच्छे रूप में विरोध कर सकते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २४-२५

सहिष्णुता का एक रूप है 'एकनिष्ठता'। अपने संकल्प के प्रति वफ़ादार, विश्वासपात्र बनना। तुमने एक संकल्प किया है, तुम अपने संकल्प के प्रति वफ़ादार बने रहते हो। यही है सहिष्णुता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४६

'पुरोधा':

दैनन्दिनी

सितम्बर

१. आन्तरिक विकास के बिना बाहरी प्रगति सम्भव नहीं है।

२. तुम जो भी करो, भगवान् को सदा याद रखो। भगवान् के चिन्तन का वैभव कितना शान्त, कितना उदात्त और कितना पवित्र होता है।

३. जब कोई गड़बड़ होती है तो तुम्हें हमेशा अपने अन्दर ही उसके कारण को ढूँढ़ना चाहिये, छिछले रूप में नहीं, अपने अन्दर गहराई में और व्यर्थ में अपने दोष पर रोने-धोने के लिए नहीं बल्कि भगवान् की सर्वसमर्थ शक्ति को अपनी सहायता के लिए बुला कर दोष का उपचार करने के लिए।

४. कम बोलो, सच्चे बनो, पूर्ण निष्कपटता के साथ काम करो। मौन रहने की शक्ति में बड़ा बल है।

५. हमेशा सच्चे बने रहने से बढ़ कर और कोई साहस नहीं है।

६. कार्यों में 'पूर्णता' की अभीप्सा सच्ची आध्यात्मिकता है। प्रगति में ही सच्चा आनन्द है।

७. प्रार्थना वही है जो सीधे हृदय से तीव्रता के साथ, मस्तिष्क में से गुज़रे बिना आनी चाहिये। यदि वे तुम्हारे मस्तिष्क में धक्कम-धक्का करने वाले केवल शब्द हों तो फिर वह कोई प्रार्थना बिलकुल नहीं रह जाती।

८. भगवान् के लिए कार्य करना, शरीर द्वारा प्रार्थना करना है।

९. औरों के साथ सख़्ती बरतने से पहले अपने साथ कठोर बनो। अपने ऊपर नियन्त्रण रखने से बढ़ कर कोई और विजय नहीं है।

१०. तुम्हारी साधना में महत्त्वपूर्ण चीज़ है पग-पग पर सच्चाई। अगर वह हो तो भूलें सुधारी जा सकती हैं और उनका बहुत महत्त्व नहीं होता। अगर ज़रा भी कपट हो तो वह तुरन्त साधना को नीचे खींच लेता है।

११. अन्तर में निवास करो, बाहरी परिस्थितियों से विचलित न होओ।

१२. एक दिन में कोई अपने स्वभाव पर विजय नहीं पाता। लेकिन धैर्यपूर्ण और सहनशील संकल्प द्वारा विजय निश्चित होती है।

१३. हम हमेशा उचित वस्तु करें तो हमेशा शान्त और सुखी रहेंगे।
१४. अगर कोई सदा मुस्कुरा सके तो वह सदा युवक रहता है।
१५. स्थिर आशा मार्ग में बहुत सहायता देती है। धीरज और अध्यवसाय के साथ सभी प्रार्थनाएँ सफल होती हैं।
१६. जो पूर्णता के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहता है उसे मार्ग की कठिनाइयों के बारे में कभी शिकायत न करनी चाहिये क्योंकि हर कठिनाई एक नयी प्रगति का अवसर है। शिकायत कमज़ोरी और सच्चाई के अभाव का चिह्न है।
१७. बिना अवसाद के सहन करने की क्षमता है सहनशीलता।
१८. अध्यवसायी संकल्प सभी कठिनाइयों पर विजय पाता है।
१९. मानसिक ग्रहणशीलता : सीखने के लिए हमेशा तैयार।
२०. नीरवता में ही सच्ची प्रगति की जा सकती है।
२१. अगर तुम अन्दर से शान्ति की माँग करो तो वह आयेगी।
२२. संकट के समय पूर्ण अचञ्चलता की ज़रूरत होती है।
२३. असफलता में, और सफलता में भी 'भागवत कृपा' हमेशा मौजूद रहती है।
२४. पूरी तरह सच्चे बनो, और कोई विजय तुम्हारे लिए दुर्लभ न होगी।
२५. सच्चाई भगवान् के दरवाज़ों की चाबी है।
२६. सत्य की एक बूँद मिथ्या सूचनाओं के सागर से ज़्यादा मूल्यवान् है।
२७. ईमानदारी का सबसे बड़ा पुरस्कार है शान्तिपूर्ण हृदय।
२८. हम भगवान् के कार्य के पूर्ण यन्त्र बनने के लिए सतत अभीप्सा करें।
२९. अपने जीवन को व्यवस्थित करो और तुम देखोगे कि प्रत्येक चीज़ के लिए तुम्हारे पास अवकाश है।
३०. कामना को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा उसे जीत लेना ज़्यादा आनन्द लाता है।

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

जीवन को पूर्ण बनाना लक्ष्य है

आन्तरिक यात्रा में तुम अन्ततः अपनी हृदयस्थ भागवत उपस्थिति यानी चैत्य तक पहुँच जाते हो। वहाँ पहुँच कर तुम्हारे आगे दो सम्भावनाएँ आ सकती हैं : या तो तुम एक दीवार में प्रवेश कर जाते हो या उसमें नहीं घुस पाते। तब तुम **संकल्प** करते हो कि दीवार टूट जाये। तुम्हारी इच्छा-शक्ति बहुत मज़बूत और विकसित होनी चाहिये, बहुत एकाग्र होनी चाहिये—जो एक ही समय में दस अलग-अलग चीज़ों के लिए इच्छा न करे। फिर तुम अपने-आपको प्रकाश-भरे बड़े कमरे में धँसते पाते हो। एक बार यह अनुभूति हो जाये तो फिर तुम्हारे मन में कोई सन्देह नहीं रहता। जब तक सन्देह रहे तब तक नब्बे प्रतिशत सम्भावना यही है कि पूरी अनुभूति नहीं हुई, उसकी ज़रा-सी छाया आयी है, लेकिन सचमुच अनुभूति होने के बाद सन्देह नहीं रहता। आन्तरिक पथ-प्रदर्शन पाने का यही सबसे अच्छा उपाय है। *गीता* में अर्जुन श्रीकृष्ण से यही कहते हैं—*'त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'*

लेकिन यह काफ़ी नहीं है। तुम्हारे जीवन का दूसरा पक्ष है कर्म में ध्यान, काम करते समय ध्यान जीवन को अर्थ देता है। तुम काम करते हुए ध्यान कर सकते हो, विशेषकर श्रीअरविन्द के योग में। लोगों ने उनसे पूछा : "यदि हम ध्यान किया करें और बिना कर्म के उच्च शान्त चेतना में रहें तो क्या हमारा रूपान्तर हो जायेगा?" उनका उत्तर था, "कदापि नहीं।" यदि तुम अपने मन, जीवन और शरीर का रूपान्तर चाहते हो, सामूहिक जीवन को बदलना चाहते हो तो कर्म ज़रूरी है। अगर तुम एक बार निश्चय कर लो कि भगवान् के लिए कार्य करोगे तो तुम्हारे अन्दर भागवत चेतना का अवतरण होगा। तुम्हें ध्यान करने की ज़रूरत न होगी। ध्यान अपने-आप आयेगा।

मुझे याद है, लगभग पैंतीस वर्ष पहले मैंने माताजी से कहा कि मैं ध्यान नहीं कर सकता तो उन्होंने कहा, "तुम्हारे लिए ध्यान ज़रूरी नहीं है।" इसके दो-एक वर्ष बाद मैं उनके कमरे के बाहर के गलियारे में बैठा

ध्यान कर रहा था। वे आकर मेरे सामने खड़ी हो गयीं। मैं गहरे ध्यान में था, मुझे पता भी न लगा। उन्होंने पाँव से ज़ोर से आवाज की तो मेरी आँख खुल गयी। मैंने कहा, "माँ, मैं आपको देख न पाया!" उन्होंने कहा, "तुम अच्छी तरह ध्यान करते हो।" मैंने कहा, "मुझे पता नहीं, यह कैसे हो गया।" तो देखो, यह अपने-आप हो गया।

एक बार तुम आध्यात्मिक जीवन को अपना लो तो उचित वृत्ति के साथ किया गया काम ध्यान के बराबर ही होता है, वह भगवान् के साथ सम्पर्क की ओर ले जाता है। ध्यान लक्ष्य नहीं है, साधन है; लक्ष्य है जीवन को पूर्ण बनाना, अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को बढ़ाना, उन्हें दैनन्दिन कार्य में लगाना और अन्त में अपने अन्दर उच्चतम भगवान् के साथ सम्पर्क में आना। तुम्हें यह निश्चय करना होगा कि तुम अपना जीवन भगवान् को समर्पित करना चाहते हो। यही एकमात्र बुद्धिमत्ता की बात है, बाक़ी सब महत्त्वहीन या बेकार है।

जैसा कि मैंने कहा, तुम ध्यान को अपने जीवन से अलग नहीं कर सकते। अगर तुम्हारी वृत्ति ठीक हो तो तुम्हारा ध्यान ठीक होता है और तुम जीवन में ठीक चीज़ करते हो। अगर वृत्ति ठीक न हो तो हर चीज़ ग़लत हो जायेगी। सच्ची वृत्ति केवल यह है : तुम्हारी सारी सत्ता, तुम्हारा जो कुछ है, तुम्हारे पास जो कुछ है, तुम जो कुछ करने-योग्य हो, वह सब कुछ भगवान् का है। एक बार तुम यह कर लो तो एक बड़ा लाभ होता है। मैंने इस मार्ग को बहुत उपयोगी पाया है। साधारणतः जब तुम्हारा मन इस या उस विषय के बारे में सोचता है या ग़लत विषयों में सोचता है तो तुम उसका नियन्त्रण करने की कोशिश करते हो। एक बार मैंने महाराष्ट्र के किसी सन्त के वचनों में पढ़ा था कि जब तुम्हारा मन बेचैन हो तो तुम्हें अपने अन्दर भगवान् को देखने की कोशिश करनी चाहिये। मैं कहूँगा कि यही सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय है। तब स्पन्दन बदल जाते हैं, सब कुछ बदल जाता है, मानों सारा संसार तुम्हारे सामने खुल जाता है। सारे समय मन पर नियन्त्रण रखने की जगह तुम्हें हर जगह भगवान् को देखने की कोशिश करनी चाहिये। मन को रोकने की जगह—तुम जानते ही हो कि मन जंगली घोड़े की तरह है—उसे सरपट भागने दो, लेकिन उसके सामने भगवान् को खड़ा कर दो मानों भगवान् सचमुच तुम्हारे सामने हैं।

इससे तुम देखोगे कि मन अपने-आप शान्त हो जाता है।

काम में ध्यान भगवान् के प्रति समर्पण से शुरू होना चाहिये। तुम्हें खुली आँखों से ध्यान करने का अभ्यास करना चाहिये। खुली आँखों से ध्यान करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि अपने चैत्य केन्द्र पर एकाग्र होकर ॐ या प्रकाश, श्रीअरविन्द या अपने गुरु, राम या कृष्ण जो भी तुम्हें अपने नज़दीक लगें, उनका ध्यान करो—मानों वे तुम्हारे हृदय में आसीन हैं, *गीता* में कही गयी बात एकदम सत्य है। तुम भगवान् के रूप में ज्योतिर्मय कृष्ण या राम या गुरु के आकार का ध्यान करो। अगर तुम यह समझो कि तुम्हारे गुरु केवल एक भौतिक शरीर हैं तो काम न चलेगा। अगर वे एक भौतिक शरीर में हैं फिर भी भगवान् के प्रतिनिधि तो हैं।

तब तुम्हारा मन अपने-आप चुप और एकाग्र रहेगा, अपने अहंकार को अपदस्थ करते हुए तुम उस उच्च चेतना से सुनना शुरू करो, उसी चेतना से देखने की कोशिश करो। एक बार तुम यह करना शुरू कर दो तो तुम देखोगे कि पथ-प्रदर्शन आता है और इस तरह तुम अपने-आप कार्य में रम जाते हो। एक बार तुम रम जाओ, एक बार तुम्हारी चेतना एकाग्र हो जाये तो कर्म स्वचालित हो जाता है। और यह क्षमता समुदाय में बढ़ जाती है। माताजी का यही मतलब था जब उन्होंने कहा था कि सद्भावना वाले बारह व्यक्ति मिल कर अभीप्सा के द्वारा भगवान् को धरती पर उतार सकते हैं—सामूहिक ध्यान की यही मोहकता है—और संसार बदल सकता है। लेकिन वे ऐसे लोग होने चाहियें—सिद्ध चैतन्य—जिन्हें ज्योति प्राप्त हो और जो मिल कर काम करें। ये शर्तें हैं और संसार बदल जायेगा।

(क्रमशः)

—नवजातजी

नींद में से बाहर निकलते हुए तुम्हें कुछ क्षणों के लिए चुपचाप रहना चाहिये और आने वाले दिन का भगवान् के प्रति उत्सर्ग करना चाहिये। उन्हें हमेशा सभी परिस्थितियों में याद रखने के लिए प्रार्थना करनी चाहिये।

सोने से पहले तुम्हें कुछ क्षणों के लिए एकाग्र होना चाहिये। बीते हुए दिन पर नज़र डालो, याद करो कि कब-कब और कहाँ-कहाँ तुम भगवान् को भूल गये थे और प्रार्थना करो कि इस तरह फिर न भूलो।

३१ अगस्त, १९५३

—श्रीमाँ

श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार

(रवीन्द्रजी ने गुरुकुल काँगड़ी से शिक्षा समाप्त करके श्रीअरविन्द के बड़े गुरुकुल में सन् १९३८ में २१ वर्ष की अवस्था में प्रवेश पाया था। २००१ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे यहीं के अन्तेवासी रहे।)

प. ले. आश्रम में अपने पहले जन्मदिन के लिए माताजी के पास प्रणाम के लिए गया तो उन्होंने ज़रा पीछे हट कर सिर हिलाया। यह घबरा गया कि मामला क्या है। माताजी को चिट्ठी लिख कर इसका मतलब पूछा।

मैं तुमसे बस इतना ही कहना चाहती थी कि तुम प्रणाम कर सकते हो, ऐसा लगता था कि तुम सकुचा रहे थे।

प्रेम और आशीर्वाद। २७ जनवरी १९३९

(प. ले. पूरा गाँधीवादी था और अभी उसके आश्रम में पैर जम ही रहे थे, लेकिन दूसरी ओर से रस्साकशी भी हो रही थी। उसने लिखा):

माँ मेरी, भारतमाता और मातृभाषा, ख्याति, गाँधीजी का सामीप्य और बड़े परोपकारी कार्यों के नाम से मेरे आगे चारा डाला जा रहा है। कृपया मेरी रक्षा कीजिये। अब काका कालेलकर के साथ काम करने के लिए एक मित्र मुझ पर ज़ोर डाल रहा है, ऐसी कृपा कीजिये कि ये प्रलोभन मुझे आपकी बाँहों में से छीन न पायें।

मैंने एक कहानी लिखी है, क्या मैं उसे प्रकाशन के लिए भेज सकता हूँ?

तुम उसे भेज सकते हो बशर्ते कि उसमें कोई आपत्तिजनक चीज़ न हो, यानी कोई राजनीतिक या सामाजिक विवाद इत्यादि की बात न हो।

मेरे प्यारे बालक को प्रेम और आशीर्वाद। २५ मार्च १९३९

प. ले. मासिक 'हंस' के श्रीअरविन्दांक का सम्पादन कर रहा था। उसकी इच्छा थी कि इस अंक में माताजी के बारे में भी लेख हो।

उनसे पूछा तो माताजी ने यह जवाब दिया :

मैं नहीं चाहती कि मेरे जीवन के बारे में कुछ छापा जाये। जब कभी किसी ने इसके लिए अनुमति माँगी है, मैंने हमेशा इन्कार किया है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

३ अप्रैल १९३९

प्यारी माँ,

'हंस' का श्रीअरविन्दांक तैयार है। मसौदा तैयार है लेकिन ऐन वक़्त पर मैं अपने किये अनुवाद को छापने का इच्छुक नहीं हूँ, अतः मैं इसे टाल देना चाहता हूँ—रद्द कर दूँ तो बहुत ही अच्छा होगा। मैं बहुत विषाद का अनुभव कर रहा हूँ, मुझे लगता है कि मेरा अनुवाद सन्तोषजनक नहीं है।

तुमने अपने अनुवाद पर बहुत मेहनत की होगी इसीलिए तुम उससे इतने असन्तुष्ट हो और यह कुण्ठा आ गयी है, लेकिन मुझे विश्वास है कि अनुवाद ठीक हुआ है और मुझे प्रकाशन स्थगित करने का कोई कारण नहीं दीखता।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२४ मई १९३९

हैदराबाद में आर्य समाज का सत्याग्रह चल रहा था, आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता स्वामी अभयदेव हैदराबाद के प्रधानमन्त्री सर अकबर हैदरी से इस विषय में बातचीत करना चाहते थे। सर अकबर माताजी और श्रीअरविन्द के भक्त थे और पॉण्डिचेरी आते रहते थे। इस बारे में माताजी ने इस प. ले. को लिखा :

मेरे पास अभय का पत्र आया है। तुम उसे लिख सकते हो, "आश्रम के साथ सम्बन्ध रखने वाले किसी भी व्यक्ति का किसी प्रकार की राजनीति में हिस्सा लेना एकदम निषिद्ध है। उसे सर अकबर हैदरी के पास नहीं जाना चाहिये और वह गया भी तो यह बिलकुल बेकार होगा। अगर वह गया और सर अकबर ने हमसे इस बारे में कुछ पूछा तो हम यह कहने

के लिए बाधित होंगे कि उसने यह हमारी स्वीकृति के बिना किया है।" तुम उसे हमारा आशीर्वाद भेज सकते हो।

३ जून १९३९

मेरे प्यारे बालक,

मैं हमेशा उपस्थित हूँ, तुम्हारे पास—तुम्हारे अन्दर—और मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ रहते हैं।

१९ जून १९३९

पहले जिस आश्रमवासी का दिमाग़ चल जाने की बात कही गयी थी वह प. ले. से मिलने आया। उसने कहा, माताजी, श्रीअरविन्द ऊपर-ऊपर से कहते हैं कि मैं चला जाऊँ, सचमुच उन्हें मेरे यहाँ रहने में कोई आपत्ति नहीं। इस पर माताजी ने लिखा :

यह बिलकुल ग़लत है, श्रीअरविन्द और मैं, हम दोनों चाहते हैं कि वह चला जाये, क्योंकि हमें विश्वास है कि पॉण्डिचेरी का वातावरण उसके मानसिक सन्तुलन और यहाँ की जलवायु उसके स्वास्थ्य के लिए अनुकूल नहीं हैं।

२१ जून १९३९

आचार्य अभयदेव प. ले. को अपने साथ गुरुकुल ले जाना चाहते थे। उन्होंने माताजी को इस विषय में लिखा। माताजी ने प. ले. को लिखा :

अभय ने मुझे लिखा है कि वह तुम्हें अपने साथ गुरुकुल ले जाना चाहता है।

मैंने अभी उसे कोई उत्तर नहीं दिया है।

पहले मैं यह जानना चाहती हूँ कि तुम्हें इस बारे में कैसा लगता है।

निस्सन्देह, अगर तुम मुझसे पूछो तो मुझे तुम्हारे यहाँ से जाने का कोई कारण नहीं दीखता। लेकिन तुम इस विषय में निःसंकोच होकर साफ़-साफ़ अपने भाव बतलाओ।

मेरे प्यारे बालक को मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

२५ सितम्बर १९३९

प. ले. ने माताजी को स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि वह किसी भी हालत में उनका आश्रम छोड़ कर कहीं नहीं जाना चाहता, वे स्वयं कहीं भेजें तो और बात है।

मैं तुम्हारे उत्तर से पूरी तरह ख़ुश हूँ यद्यपि इसमें मेरे लिए आश्चर्य की बात कुछ नहीं है। मुझे मालूम था कि तुम्हारे हृदय में क्या है, लेकिन अभय से सुनिश्चित रूप से नहीं कहने के लिए मैं तुम्हारा लिखित उत्तर चाहती थी।

तुम बिलकुल निश्चिन्त रहो, मैं तुम्हें यहाँ से नहीं भेजूँगी।

मेरे प्यारे बालक को प्रेम और आशीर्वाद।

२५ सितम्बर १९३९

माताजी,

मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आपके काम के बारे में सोचना आपके बारे में सोचने का एक भाग नहीं है। क्या यह उचित मनोभाव है कि चाहे मैं आपको सदा याद न कर सकूँ, फिर भी आपके काम के बारे में सोचता रहूँ।

यह बिलकुल ठीक है। २७ नवम्बर १९३९

माताजी,

मैं यहाँ तकिये या मच्छरदानी का उपयोग नहीं करता। मैं खाट पर कुछ बिछाये बिना या जमीन पर चटाई बिछा कर सोता हूँ। मुझे बतलाया गया है कि आपको यह पसन्द नहीं है। क्या यह ठीक है? निस्सन्देह, पहले मैं यह सब तपस्या के भाव से करता था पर अब यह बात नहीं है। मुझे इस तरह रहने की आदत हो गयी है और मैं कोई कारण नहीं देखता कि मैं इसे बदल कर बेकार में आपसे अधिक खर्च किसलिए करवाऊँ। क्या आपको इसमें कोई आपत्ति है?

मुझे बिलकुल कोई आपत्ति नहीं है, आश्चर्य है कि तुमसे किसने कहा कि मुझे आपत्ति होगी!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ.२९६-३००

पिता और बेटी

पिता वृद्ध थे, बेटी ही अपने पिता का पूरा-पूरा ख़याल रखती थी। उसकी माँ साल-भर पहले गुज़र गयी थीं। माँ ने अन्तिम साँस लेने से पहले बेटी के ऊपर उसके पिता का उत्तरदायित्व सौंप दिया था जिसे चालीस वर्ष की वह युवती बख़ूबी निभा रही थी। माता-पिता की लम्बी बीमारी ने उसके पास शादी के विचार को कभी फटकने ही नहीं दिया।

इस छोटी-सी कहानी के पीछे यह भूमिका इसलिए दी है क्योंकि यह भारत की नहीं, यूरोप की कहानी है जहाँ 'व्यक्तित्व' का बोलबाला डंके की चोट पर बजता है, जहाँ कुछ बड़े हो जाने पर माता-पिता के साथ रहना बच्चों को गवारा नहीं होता और बालिग होते-न-होते बच्चे डेढ़ चावल की खिचड़ी ख़ुद पकाने लगते हैं। इसीलिए बेल्जियम के उस छोटे-से गाँव में 'मीशा' नामक इस युवती को कई किशोर-किशोरियाँ अजूबे की तरह देखते; बड़े-बूढ़े उसकी प्रशंसा करते न थकते। ख़ैर! मीशा की ज़िन्दगी तो अपने पिता के आस-पास ही घूमती और इसी में वह सारे संसार की ख़ुशियाँ समेट लेती। पिता को भी अपनी बेटी पर गर्व था। ज़िन्दगी अपनी रफ़्तार से चल रही थी। वृद्ध, बीमार पिता और भी बूढ़े होते जा रहे थे, लेकिन बुढ़ापे और बीमारी ने न उन्हें मायूस होने दिया, न चिड़चिड़ा। और कुछ समय से मीशा ग़ौर कर रही थी कि पिता के चेहरे पर हमेशा एक मुस्कान खिली रहती, मानों हृदय का सन्तोष उनके चेहरे पर चौबीसों घण्टे झिलमिला रहा हो। बेटी भी अपने पिता की ख़ुशी में दिन-रात चहकती रहती। लेकिन एक अजीब बात मीशा ने यह भी देखी कि दिन में कई बार वे अपने कमरे का दरवाज़ा उड़का दिया करते, मीशा से कहते, "बेटा, तुझे बहुत आश्चर्य होगा, लेकिन तेरी माँ के जाने के बाद, ज़िन्दगी के आख़िरी दिनों में मैं प्रार्थना में ज़्यादा-से-ज़्यादा समय बिताना चाहता हूँ, इसीलिए चुपचाप दरवाज़ा उड़का कर रहता हूँ।" और मीशा यह सुन कर सचमुच हैरत में पड़ गयी थी। उसके पिता तो 'नास्तिक' के रूप में सारे गाँव में मशहूर थे। माँ भी कहते-कहते थक जाती थीं कि गिरजाघर में थोड़ी-सी श्रद्धा-भक्ति के साथ तो जाया करो। लेकिन पति महोदय हर इतवार को पत्नी और बेटी के साथ बस एक रस्म निभाने के तौर पर

गिरजाघर जाते, वहाँ बैठे होते तो ऊँघते, खड़े होकर प्रार्थना करनी होती तो उनकी जम्हाइयों पर जम्हाइयाँ चलती रहतीं। माँ कोहनी से बीच-बीच में टकोरें देतीं तो मिनट, दो मिनट के लिए मुँह पर गम्भीरता ओढ़ लेते, लेकिन उसे सरकने में कितना समय लगता था भला? फिर वही 'ढाक के तीन पात' बन जाते वे, और गिरजाघर से निकलते ही पहला वाक्य यही फुसफुसाते—"चलो, हफ़्ते-भर की छुट्टी!" और माँ ऐसी तेज़ नज़रों से उन्हें क्षण-भर के लिए घूरतीं कि वे जीभ काट कर खिसियानी-सी हँसी हँस देते। उसके वे ही कट्टर "नास्तिक" पिता रातोरात इतने आस्तिक कैसे बन गये कि घण्टों किवाड़ उड़काये प्रार्थना में लीन रहते!! मीशा ने न कभी कमरे में झाँकने की ज़रूरत समझी, न ही उसके मन में कभी कोई उत्सुकता ही जगी क्योंकि वह तो दिनोदिन अपने पिता की बढ़ती प्रसन्नता और सन्तोष से ख़ुद इतनी सन्तुष्ट रहती कि हर पल की ज़िन्दगी वह पूरे मनोयोग से जीती। जीवन के सभी उतार-चढ़ावों के पीछे वह उस परम प्रभु का ही हाथ देखती जो जो भी करता है भले के लिए ही करता है। यही कारण था कि वृद्ध पिता की दिनोदिन गिरती हालत से भी मीशा कभी विचलित नहीं हुई। अब पिता बन्द कमरे में अपना ज़्यादा-से-ज़्यादा समय अकेले में ही बिताते। हाँ, इतवार को ज़रूर नियमित रूप से मीशा के साथ गिरजाघर जाते।

उस इतवार बीमारी की वजह से वे गिरजाघर न जा पाये तो सहृदय मुख्य पादरी दोपहर को उनके घर आये। मीशा से उन्होंने कहा, "बेटी, तुम्हारे पिता ने इतने वर्षों तक गिरजाघर में नियमित रूप से प्रार्थना की, यह क्रम टूटने न पाये। जब कभी वे गिरजाघर न आ पायेंगे, मैं यहाँ यीशु के सन्देशवाहक के रूप में आकर उनके संग प्रार्थना करूँगा।" मीशा गद्‌गद हो उठी।

पादरी महोदय ने कमरे में प्रवेश करते ही ज़ोर से अभिवादन किया—"हैलो जॉन, कैसे हो? लो मैं आ गया तुम्हारे साथ प्रार्थना करने।"

जॉन ने आश्चर्यचकित हो पादरी को देखा। "आप! वाह! प्रभु ने आपको भी भेज दिया।"

अब पादरी चौंके। यानी कोई और भी आता है? जॉन के बिस्तर से सटी एक कुर्सी को देख कर पादरी ने पूछा—"कौन आकर गया? या फिर

तुम मेरा इन्तज़ार कर रहे थे?"

"जी नहीं, यह कुर्सी तो..." जॉन हकलाने लगा। फिर उसने धीरे से कहा—"कृपया दरवाज़ा उड़का कर अन्दर आ जाइये।" पादरी ने वैसा ही किया।

जॉन ने कुर्सी की तरफ़ इशारा करते हुए कहा—"बैठिये, अभी-अभी तो वे यहाँ से गये। क्षण-भर पहले ही तो मेरी उनसे बातें ख़तम हुईं।" "वे!"... पादरी चौंके..."लेकिन मैंने तो किसी को बाहर निकलते नहीं देखा...!"

"कैसे देखेंगे आप? यह भी तो एक कहानी है जिसके बारे में मेरी बेटी तक नहीं जानती। आप तो जानते ही हैं कि मैंने कभी प्रार्थना करना न सीखा, न जाना। हर इतवार गिरजाघर जाना तो मुझे सज़ा भुगतने-जैसा लगता था, प्रार्थना करना मुझे आता नहीं था और आपकी बातें मेरे सिर के ऊपर से होकर निकल जाती थीं! पत्नी और ईश्वर के भय से गिरजाघर नियमित जाता तो था लेकिन ऊँघने के सिवाय मेरा वहाँ कोई दूसरा काम न होता था। पत्नी का साया सिर से उठ गया तो ईश्वर की याद सतायी, लेकिन प्रार्थना का आँचल कभी थामा नहीं इसलिए वह सिरा तो हाथ में आया ही नहीं...।" मुख्य पादरी हलके से मुस्कुरा उठे। "आप सोच रहे होंगे कि कैसा अजीबोग़रीब इन्सान है। प्रार्थना करना कोई आने या न आने की बात तो है नहीं, यह तो सहज क्रिया होती है। लेकिन सच मानिये, पत्नी के देहान्त के बाद मेरा जीवन एकदम से ख़ाली हो गया। मुझे उठते-बैठते कहीं चैन न मिलता था, तब शायद ईश्वर को मुझ पर दया आ गयी। चार महीने पहले मेरे जिगरी दोस्त ने मेरी करुण दशा देख कहा—'जॉन, तुम कहते हो तुम्हें प्रार्थना करनी आती नहीं, लेकिन प्रार्थना और कुछ नहीं, यीशु से बातचीत है। लो यह तरीक़ा अपनाओ—एक कुर्सी पर बैठ जाओ, अपने सामने एक ख़ाली कुर्सी रखो और श्रद्धापूर्वक यीशु को उस पर बैठे हुए देखो। यह कोई छलावा नहीं है, क्योंकि यीशु ने ख़ुद कहा है, "मैं हमेशा तुम्हारे साथ रहूँगा।" उनसे बातें करो और उनकी बातें सुनो, ठीक उसी तरह जैसे तुम अभी मेरे साथ कर रहे हो।'

"मुझे यह तरकीब बहुत पसन्द आयी। तब से मैंने यह कुर्सी अपने सिरहाने बिस्तर से सटा कर रखवा ली। मैं इसका ध्यान रखता हूँ कि कहीं

मेरी बेटी मुझे इस तरह ख़ाली कुर्सी के साथ बातें करते न देख ले, नहीं तो इस ग़लतफ़हमी को पाले रखेगी कि बुढ़ापे में पिता मेज़-कुर्सियों के साथ बातें करने लगे थे!" इतना कह कर वृद्ध तो ठहाका मार कर हँसने लगे, लेकिन पादरी एकदम भौचक्के, पत्थर से बन गये।

वृद्ध कहते गये, "पादरी साहब, यह तरकीब अच्छी चल रही है। अब तो बातों का सिलसिला टूटता भी नहीं। बस यहीं बैठ जाते हैं यीशु और चुपचाप बैठे-बैठे मुस्कुराते रहते हैं, कुछ बोलते नहीं, बस सुनते रहते हैं। सवाल-जवाब तो सब मैं ही करता रहता हूँ। अभी आपके अन्दर आने से ठीक पहले ही तो उठे थे वे।"

पादरी उस कुर्सी पर बैठ न पाये। कमरे में निस्तब्धता छा गयी। गिरजाघर के मुख्य पादरी उन सामान्य वृद्ध सज्जन के पायताने खड़े हो उन्हें सम्मानपूर्वक स्निग्ध दृष्टि से एकटक देखते हुए चुपचाप आँसू बहाये जा रहे थे। ठीक उनके पीछे वृद्ध की बेटी मीशा भी खड़ी थी जिसने अपने पिता के परमानन्द का रहस्य जान लिया था। बेटी को देख पिता ने उसे आलिंगन में भरने के लिए लेटे-लेटे अपनी बाँहें फैला दीं। वह दौड़ कर उनके अंक में समा गयी। मुख्य पादरी का मस्तक वृद्ध के पैरों पर टिका था।

दो दिन बाद वृद्ध ने शरीर छोड़ दिया। बेटी मीशा के चेहरे पर विषाद की रेखाएँ नहीं उभरीं क्योंकि उसने तो अपने पिता को यीशु की गोद में अन्तिम साँसें लेते देखा था।

वृद्ध के अन्तिम दर्शन करने आये प्रत्येक व्यक्ति ने एक ही आश्चर्य प्रकट किया—"उनका सिर बिस्तर पर तकिये की बजाय सिरहाने रखी कुर्सी पर क्यों है भला?"

'पुरोधा', अक्तूबर २०१२ से —वन्दना

केवल सर्वोच्च प्रभु के आदेश को ही सुनने की चेष्टा करो, और यदि तुम पूरी तरह से सच्चे होगे तो वे तुम्हें इस आदेश को सुनाने और उसे विश्वासपूर्वक पहचानने का रास्ता भी निश्चित रूप से ढूँढ़ निकाल लेंगे।

—श्रीमाँ

प्रार्थना

१५ जून १९१४

"मेरे हृदय में दुबकी पड़ी रह और चिन्ता न कर : जो किया जाना चाहिये वह अवश्य किया जायेगा। और ठीक उस समय जब तू इसे बिना जाने करेगी तभी वह अच्छे-से-अच्छा होगा।"

प्रभो, मैं तेरे हृदय में हूँ और मुझे उसमें से कोई भी हटा नहीं सकता। और इस हृदय की अथाह गहराइयों में से, इस परमानन्द की मुस्कुराती शान्ति में से मैं तेरी अभिव्यक्ति के बाहरी रूपों को संघर्ष करते और प्रयास करते देखती हूँ ताकि वे तुझे ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकें, तुझे ज़्यादा अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकें।

जैसा कि तू मुझे बतलाता है, यदि तेरी सिद्धि के नये रूपों का समय आ गया है तो ये रूप अनिवार्यतः जन्म लेंगे। सत्ता में कोई चीज़ इसका अनुभव कर रही है लेकिन अभी तक उसे जानती नहीं; अतः वह प्रयास करती है कि तू उससे जो माँग करता है, अपने-आपको उसके अनुकूल, उसके योग्य बनाये।

लेकिन जो तेरे बारे में सचेतन है और जो तेरी शक्ति में निवास करता है वह जानता है कि यह नया रूप तेरी अभिव्यक्ति की अनन्त प्रगति में एक अत्यणु के समान है, और वह हर रूप को शाश्वत बहुलता की प्रशान्तता में देखता है।

और इस प्रशान्ति में निहित है सिद्धि की सर्वशक्तिमत्ता।

हमें निर्विकार में ऊपर उड़ना जानना चाहिये; निश्चित उड़ान में है पूर्ण ज्ञान।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. १०३

Date of Publication: 1st September 2020
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

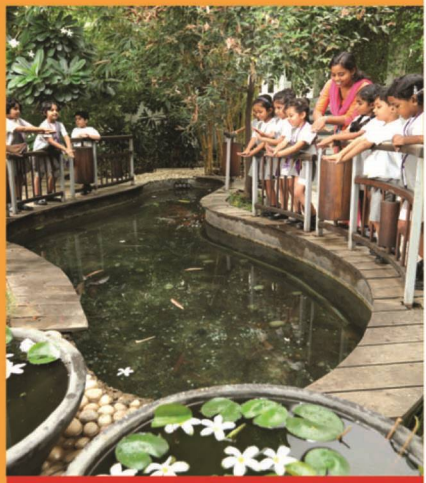

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2019-20

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363